गुरुत्तं-10

प्रवचनकार

आचार्य वसुनन्दी मुनिराज

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य गुरुवर
श्री वसुनंदी जी महाराज के
पंचम आचार्य पद दिवस पर प्रकाशित

कृति	:	गुरुत्तं-10
मंगल आशीर्वाद	:	परम पूज्य श्वेतपिच्छाचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी मुनिराज(2016-17)
कृतिकार	:	आचार्य श्री 108 वसुनन्दी जी मुनिराज
संपादन	:	आर्यिका वर्धस्वनंदनी
प्राप्ति स्थान	:	श्री जम्बूस्वामी तपोस्थली, बोलखेड़ा (कामां) राजस्थान
संस्करण	:	प्रथम 1000 (सन् 2019)
प्रकाशक	:	निर्ग्रंथ ग्रंथमाला समिति
पुण्यार्जक	:	मातुश्री त्रिशला जैन डॉ. मोनिका जैन धर्मपत्नी डॉ. नीरज जैन पुत्र निखिल जैन, पुत्री सेजल जैन, पश्चिम विहार, नई दिल्ली
मुद्रक	:	पारस प्रकाशन, दिल्ली मो.: 9811374961, 9818394651, 9811363613 pkjainparas@gmail.com, kavijain1982@gmail.com

पुरोवाक्

णाणमय विमलसीयलजलं पाऊण भविय भावेण।
वाहिजरमरणवेयण डाह विमुक्का सिवा होंति॥

- भावपाहुड़, 25

भव्य जीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्व भाव सहित पीकर और व्याधि स्वरूप जरा-मरण की वेदना को भस्म करके मुक्त होते हैं।

आत्महितास्था भावस्य संवरो नव नवश्च संवेगो।
निःकंपता तपो भावना परस्योपदेशनं ज्ञातुः॥

आत्महित में स्थिरता, संवर भाव की प्राप्ति, नव-नव संवेग, परिणामों में दृढ़ता, तप की भावना व परकल्याणार्थ धर्मोपदेश, ये 6 स्वाध्याय के फल हैं।

स्वाध्याय मानव के लिये संसार की दु:ख रूपी धूप से बचने का श्रेष्ठतम उपाय है। जो तत्काल दु:खों से मुक्ति प्रदान करता है पुन: श्रुत का आलम्बन लेने वाले भव्य प्राणी भव तट अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करते हैं। स्वाध्याय से मानव स्वहित के लिये प्रेरित होता है, जिस प्रकार विष को हाथ में लेने से यह विष है ऐसा जानकर प्रज्ञपुरुष उसे तत्काल छोड़ देता है उसी प्रकार यह संसार के पाप के हेतु सांसारिक कार्य आत्मा का अहित करने वाले हैं।

स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी मनुष्य शीघ्र उससे विरक्त हो आत्महित में प्रवृत्त होता है। स्वाध्याय से कषायों का शमन होता है, कितना ही तीव्र दु:ख क्यों न हो किंतु स्वाध्याय करते समय ऐसी शांति का अनुभव होता है जैसे दु:खी बालक को माँ की गोद में सिर रखकर कुछ समय के लिये ही सही किंतु शांति

प्राप्त होती है। जिस प्रकार माँ बालक की हितकारिणी, उसे सुख देने वाली होती है उसी प्रकार जिनवाणी माँ मोक्ष का उत्कृष्ट सुख प्रदान करने में समर्थ है।

सागर में उठती ऊर्मियों के मध्य पतित हुये मानव को सहसा लकड़ी का पट मिल जाने पर वह तट तक पहुँच जाता है ऐसे ही संसार सिंधु में हिचकोले खाते हुये प्राणी को बचाने हेतु जिनवाणी का आलंबन नितांत आवश्यक है। एतावता स्वाध्याय पुण्य का आश्रव, पापों की निर्जरा, संक्रमणादि अनेक कार्यों को एक साथ करने में समर्थ है।

परिणाम मानव के कर्मबंध वा निर्जरा में मुख्य कारण हैं और स्वाध्याय से परिणामों में निर्मलता आती है। परिणामों की यह निर्मलता ही आत्मा को निर्मल, विमल व उज्ज्वल बनाने वाली है।

यह कृति पूज्य गुरुदेव के मीठे प्रवचनों का संकलन है। 'गुरुत्तं' का यह दशवाँ भाग मानो दस धर्मों को जीवन में लाने वाला एवं दस प्रकार का धर्मध्यान देने वाला है। गुरुओं की वाणी निश्चय से मानव को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, जो हृदय स्थान तक पहुँचकर विकारों की किट्टकालिमा को धो देती है, चित्त को प्रफुल्लित करती है।

गुरुवर श्री के प्रवचन उस मीठी औषधि के समान हैं जिनको बालक खुशी-खुशी ग्रहण करते हैं, जो चेहरे पर मुस्कुराहट भी देती है और स्वास्थ्य भी अनुकूल करती है। अतः सभी के कल्याणार्थ इसका संकलन किया गया है। गुरुवर श्री द्वारा सज्जन-दुर्जन का स्वभाव, आदर्श गृहस्थ कौन? नरक के तीन द्वार, समय का सदुपयोग, निंदा का फल आदि जीवनोपयोगी

ऐसे विषयों पर प्रवचन दिया गया है जिसका प्रैक्टीकल अनुभव जीवन में किया जा सकता है, और ये जीवन का समीचीन परिवर्तन करने में भी समर्थ हैं।

हमारे द्वारा प्रमादवश, अल्पज्ञतावश इस संपादन के कार्य में यत्किंचित् भी त्रुटि रह गई हो तो विद्वत्जन संशोधित कर पढ़ें। नीर-क्षीर विवेकी हंसवत् गुणग्राहक दृष्टि बनाकर क्षीर रूपी गुणों का अवग्रहण करें। कषायों के वंचनार्थ व कल्याणार्थ गुरुवर श्री के प्रवचनों का संकलन "गुरुत्तं 10" के रूप में किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में संघस्थ त्यागीव्रती, मुद्रण-प्रकाशन में सहयोगी धर्मस्नेही बंधुजनों को पूज्य गुरुवर श्री का मंगलमय शुभाशीष।

गुरुवर श्री का संयमपथ सदैव आलौकित रहे, शताधिक वर्षों तक यह वसुधा गुरुवर श्री के तप, ज्ञान, साधना से सुरभित रहे। परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्ति सहित कोटिशः नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु.....।

।। सर्वेषां मंगलं भवतु ।।

श्री शुभमिति पौष कृष्ण त्रयोदशी — ॐ ह्रीं नमः

श्री वीर निर्वाण संवत् 2545 — आर्यिका वर्धस्व नंदनी

श्री दिगम्बर जैन मंदिर — 3 जनवरी, 2019

ज्योति कॉलोनी, दिल्ली

अनुक्रम

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	संतोषो नंदनं वनं	7
2.	संतोष किसमें करें, किसमें नहीं	20
3.	श्रावक के कर्त्तव्य	32
4.	आत्मा कहाँ है?	43
5.	धर्म का पालन क्यों?	51
6.	धर्मयोग्या हि मानवाः	58
7.	सज्जन-दुर्जन का स्वभाव	66
8.	नरक के तीन द्वार	76
9.	कौन है हमारा	85
10.	सच्चा गुरु कौन?	93
11.	आदर्श गृहस्थ कौन?	101
12.	जिनबिम्ब स्थापना	112
13.	मोक्ष का बीज	120
14.	तुम्हें कौन सा फल चाहिये	128
15.	आत्मा के परिणाम	138
16.	समय का सदुपयोग	146
17.	निंदा का फल	154
18.	तृण के समान क्या है?	165
19.	उत्कृष्ट का चुनाव	173
20.	कौन हो पथ प्रदर्शक	182
21.	धैर्य	190

संतोषो नंदनं वनं

महानुभाव! जीवन सभी को मिला है, किसी को छोटा, किसी को बड़ा। जीवन का यदि सदुपयोग नहीं किया गया तो बड़ा जीवन भी व्यर्थ है, जो सदुपयोग करना जानता है वह छोटे जीवन को भी सफल और सार्थक कर सकता है। हमें अपने जीवन को कैसे सार्थक करना है। किसी किसान के पास सौ बीघा जगह है, यदि उसने उस जमीन पर बबूल के पेड़ बो दिये तो उसे जो भी फसल प्राप्त होगी वह शोकप्रद व दुःखद होगी, अशान्तिकारक होगी, सुख-शांति को देने वाली नहीं होगी। बबूल के वृक्षों से कभी भी आम के फल प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं। उस बबूल के पेड़ पर बबूल के सिवाय अन्य अमरूद, जामुन, बेरादि किसी भी प्रकार के फल नहीं लगेंगे। केवल बबूल के फल जिसे (फलियाँ) कहते हैं वही लगेंगे, और काँटे ही उस पर लग सकते हैं। दूसरे व्यक्ति के पास मात्र 5 बीघा जगह है उसमें उसने आम के वृक्ष, कुछ नारियल के, कुछ बादाम के वृक्ष, चंदन का वृक्ष लगा दिया, अंगूर की बेल भी लगा दी। तो 5 बीघा जगह में अंगूर, आम, बादाम आदि जिस-जिस के वृक्ष लगाये हैं उस-उस के फल मिलना संभावित है।

महानुभाव! अब आप स्वयं सोचें कि अधिक खेत रखना व उसमें बुरी फसल और बुरे बीज बोना ज्यादा अच्छा है कि कम खेत रखना व उसमें अच्छा बीज बोना अच्छा है। आप स्वयं सोच रहे होंगे कि कम खेत हो तो ज्यादा ठीक है, उसमें बीज अच्छे बोये जायें, ज्यादा खेत लेकर भी क्या करेंगे यदि वे दुःखद

हैं तो। दुर्योधन के पास श्रीकृष्ण की पूरी सेना भी पहुँच गयी तब भी वह जीता नहीं, अर्जुन के पास श्रीकृष्ण थे, सेना नहीं, उनका संकल्प था कि मैं युद्ध में कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाऊँगा, फिर भी पाण्डव जीत गये। अमृत चुल्लुभर भी पर्याप्त होता है, जहर समुद्रों के बराबर हो तब भी बेकार है।

कभी अपने जीवन पर ये शिकायत मत करो कि मुझे छोटा जीवन मिला, मैं क्या कर सकता था? मुझे समय कम मिला इस प्रकार समय की निंदा वही करते हैं, जो समय का सदुपयोग नहीं करते। हाँ ये बात है कि व्यक्ति जब समय का सदुपयोग करना प्रारंभ करता है, तब तक उसका बहुत सारा समय निकल गया होता है, इसलिये कहता है कि समय बचा ही कहाँ है। समय तो तुम्हारे पास था, यदि पहले से तुम जाग्रत हो जाते तो संभव है उस छोटे से समय में बहुत अच्छे-अच्छे अनेक कार्य भी किये जा सकते थे। क्षणभर में ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है जो उदाहरण पूरे विश्व के लिये मान्य हो जाये। एक क्षण में ऐसा कार्य किया जा सकता है जिस कार्य के लिये दुनिया सदियों तक याद रखे। चाहे व्यक्ति प्राण ही दे रहा है किंतु एक प्राण दे रहा है धर्म की रक्षा के लिये और एक प्राण दे रहा है धर्म को नष्ट करने के लिये दोनों में बहुत अंतर है।

एक अन्तर्मुहूर्त के जीवन में व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है उसका सही उपयोग कर ले तो। यदि हजारों, लाखों, करोड़ो वर्षों का जीवन भी मिल जाये और सदुपयोग करना नहीं जानता, बस सोचता है मैं अपना हित करूँगा, कल्याण करूँगा, पुण्य कार्य करूँगा। करूँगा, पर कर नहीं रहा है। फिर कहता है मेरा छोटा सा जीवन है, महापुरुषों का जीवन कोटि पूर्व का भी

होता है, हम छोटे से जीवन में क्या कर सकते हैं? तो वह व्यक्ति अपने समय का सदुपयोग करना नहीं जानता, सिर्फ दुरुपयोग करना जानता है और उस समय में भी सबकी निंदा करके उसका दुरुपयोग कर रहा है। वह सदुपयोग नहीं कर पा रहा है।

हम चार बातें आपसे कहते हैं हो सकता है वे चार बातें आपके जीवन में काम आ जायें। मनीषी विद्वानों ने कहा है-

"क्रोधो वैवश्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुहा धेनू, संतोषो नंदनं वनं॥"

महानुभाव! यहाँ पर आचार्य महोदय कह रहे हैं, हो सकता है इन चार बातों को समझकर आपके जीवन की चार अवस्थायें सुधर जायें, ये चार बातें आपको चतुर्गति के दुःखों से मुक्ति दिला दें। हो सकता है तुम चार कषायों को जीतने में समर्थ हो जाओ, हो सकता है इन चार बातों को अपनाने से चार पुरुषार्थों के फल को प्राप्त कर सको।

पहली बात- **"क्रोध यमराज का भी राजा है"**- जिसके पास क्रोध की अग्नि है उसे यमराज को बुलाने की क्या आवश्यकता। यमराज एक बार किसी व्यक्ति को छोड़ भी दे किंतु क्रोध कभी छोड़ता नहीं। क्रोध ऐसी अग्नि है जो चेतना के अंदर से प्रकट होती है और जहाँ प्रकट होती है उसे पहले जलाती है। आप सब जानते हैं दीपक जलाने के लिये, चाहे ईंधन जलाने के लिये, चाहे कूड़ा जलाने के लिये कोई व्यक्ति दियासलाई में से एक कोड़ी (तिली) निकालता है उसको रगड़ता है, जलता है। किंतु वह तिली दूसरे को जलाये इसके पहले उसे स्वयं जलना पड़ता है, उसके मुख पर दूसरों को

जलाने के लिये जहर नहीं है वरन् पहले खुद को जलाने के लिये है।

क्रोध भी उस दियासलाई की तिली पर लगे मसाले की तरह है। वह क्रोध जिस आत्मा में प्रकट हो रहा है उसे तो जलायेगा ही जलायेगा अब दूसरे को जलाने पहुँच पाये या न पहुँच पाये। तिली भले ही दीपक को जला पाये या न जला पाये किंतु स्वयं तो जल गयी। क्रोध यदि कहीं बाहर से आता तो मनुष्य अपनी सुरक्षा कर लेता, बहुत ऊँची-ऊँची बाउण्ड्री बनवाता, बॉडीगार्ड खड़े कर लेता और कोई कवच धारण कर लेता, जिससे वह क्रोध के बाणों का प्रहार सहन कर सके, या किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाता। मुश्किल तो ये है कि क्रोध बाहर से नहीं आता, क्रोध अंदर से आता है। लोग कहेंगे महाराज जी ऐसा क्यों कह रहे हैं, हम तो शांति से बैठे थे, सामने वाला व्यक्ति आया उसने कोई ऐसे अपशब्द कहे, हमारे मन के प्रतिकूल बात कही, तो हमें क्रोध आ गया। उसने हमें क्रोध दिलाया है, हमने नहीं किया।

भैया! ऐसे क्रोध नहीं आता। क्रोध हमेशा कमजोर के प्रति बहकर के आता है जैसे पानी नीचे की ओर बहता है, ऐसे ही क्रोध तुमको भी आता है, तो जिसके प्रति तुमने ये सोच लिया है कि इसे मौका पाकर मैं नष्ट कर सकता हूँ तभी क्रोध आता है। क्रोध उस समय नहीं आता जब आपको लगता है मैंने इसके सामने आँख उठाकर देखा भी तो ये मेरा सिर धड़ से अलग कर देगा, उस समय क्रोध नहीं आता, बस हाथ जोड़कर क्षमा माँगी जाती है। जंगल को वह चिंगारी जलाने में समर्थ होती है, जिस चिंगारी को ये भरोसा हो कि जब तक मैं जंगल को जलाऊँगी तब तक आकाश से मूसलाधार वर्षा नहीं होगी, वह जंगल को

जला सकती है। किन्तु चिंगारी जंगल को जलाने के लिये आये, उसके पहले सघन श्याम मेघ जो जल से लदे हुये हैं वे बरस जायें, और जंगल में पानी-पानी कर दें। तब ऐसी एक नहीं हजारों चिंगारी भी आ जायें तो भी जंगल को जला नहीं सकती।

कोई व्यक्ति हमें क्रोध दिलाने के लिये आये, और हम क्रोध न करना चाहें तो वह हमें क्रोध नहीं दिला सकता। हम क्रोध करना चाहते हैं, सामने वाले को कमजोर महसूस करके उस पर टूट पड़ते हैं। सामने वाला बलवान् होता है तो अपना बचाव करते हैं सुरक्षा करते हैं। ये मेरे पर क्रुद्ध हो गया तो मुझे समूल नष्ट कर देगा।

"मूलस्यनाशो बलवद्विरोधः"

यदि बलवान् से विरोध किया जाता है तो वह मूल से नाश हो जाता है। इसलिये कोई कमजोर बलवान् से विरोध नहीं करता। तो क्रोध स्वयं अंदर से प्रकट हुआ, यदि हमारे में क्षमा बहुत है तो सामने वाला कितना भी क्रोध करे, धन नष्ट करे, प्रतिष्ठा नष्ट करे, शरीर नष्ट करे, दुर्वचन कहे हमें क्रोध नहीं करना है तो नहीं करना। क्षमा का कवच पहनकर बैठ जाओ तो क्रोध की चिंगारी प्रवेश नहीं करेगी। क्षमा का बाँध/कवच टूटा तो क्रोध टूट पड़ेगा। प्रत्येक आत्मा में दोनों शक्ति हैं, क्रोध करने की शक्ति भी है और क्षमा करने की शक्ति भी है। दरअसल में क्रोध हमने अनादिकाल से किया है, और जिस कार्य को हम बार-बार करते हैं उस कार्य का हमें अभ्यास हो जाता है तो वह कार्य हमें सहजता में हुआ लगता है।

जिस रास्ते से आप दिन में 10-50 बार आते जाते हैं तो उस

रास्ते पर आँख बंद करके भी चले जायेंगे और आपको एहसास भी नहीं होता कि मैं कहाँ पहुँच गया और जिस रास्ते पर पहली बार जायें तो बड़ी परेशानी होती है। अनादिकाल से आज तक क्रोध के मार्ग पर चले हैं इसलिये क्षमा का अहसास नहीं है कि क्षमा कितनी बलवान् होती है कितना उसका फल है। क्रोध का अनुभव है इसलिये क्रोध आ जाता है। यूँ समझें प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में दो पात्र हैं एक पात्र में पेट्रोल भरा हुआ है दूसरे पात्र में गंगा जल। सामने वाले ने कोई बात कही यानि क्रोध की तिली जलाकर तुम्हारे ऊपर फेंकी और तुमने सहजता में उधर दाँया हाथ बढ़ाया तो पेट्रोल में गिरते ही बहुत बड़ी आग लग जायेगी। फिर उस अग्नि को बाँये हाथ का जल भी बुझा नहीं पायेगा, यदि पेट्रोल के पात्र को नहीं छोड़ा तो वह भस्म कर देगा। बाँया हाथ थोड़ी देरी से बढ़ता है किन्तु विवेकी व्यक्ति चिंगारी देखकर के यदि बाँये हाथ को बढ़ा दे तो निःसंदेह वह चिंगारी उस जल में गिर जायेगी और अपना अस्तित्व समाप्त कर देगी। वह अग्नि जिस तिली से पैदा हुयी है उसे तो जला देगी। यद्यपि वह जल उसकी भी सुरक्षा करने का प्रयास करेगा, आधी तिली जली है तो आधी ही जलेगी पूरी नहीं जल पायेगी। सामने वाला व्यक्ति क्रोध करना चाहे और यदि हम क्षमा करें तो उसका क्रोध उसका ज्यादा अनर्थ नहीं कर पायेगा और हम भी अपना अनर्थ होने से बच जायेंगे। यह क्रोध यमराज से भी ज्यादा खतरनाक होता है

महानुभाव! अगली बात है- **'तृष्णा वैतरणी नदी'** व्यक्ति की तृष्णा का कहीं अंत नहीं है। उसने जितना प्राप्त कर लिया उससे अधिक प्राप्त करने की इच्छा में प्रतिपल दुखों की अग्नि

में संतप्त हो रहा है। इस दुःखानल से बचने का एक ही उपाय है, वह है अपनी इच्छाओं, आशाओं पर अंकुश। कहा भी है-

आशादासीकृता येन, तेन दासीकृतं जगत्।
आशायाः यो भवेद्दासः, सः दासः सर्वदेहिनाम्॥

जिसने आशा को दास बना लिया उसने संसार को दास बना लिया। जो आशा का दास है वह सर्वप्राणियों का दास है।

तृष्णा पर शासन करने वाला ही शास्ता बन सकता है। तृष्णा तो सभी पापों की जन्मदात्री है। तृष्णायुक्त व्यक्ति वर्तमान निधि को तो खोता ही है साथ में लोभ के वशीभूत होकर पापासक्त होने से पाप कर्मों का बंधकर निजात्मा को दंडित करता है।

एक बार एक नाई राजा की हजामत करने राजकीय कक्ष में पहुँचा। उसने अपना कार्य पूरा किया बाद में राजा उसे उसकी कीमत देने लगे। वह नाई सोचता है आज तो राजा स्वयं दे रहे हैं कुछ अच्छा माँग ले, बोला महाराज! कुछ चाहिए। राजा को लगा शायद नाई को यह कम लग रहा है तो कुछ और बढ़ा दिये। नाई पुनः बोला महाराज! कुछ चाहिए। राजा ने सोचा यह शायद पुरस्कार स्वरूप अन्य वस्तु चाहता है तो राजा ने अपनी अँगूठी उतारकर देनी चाही। अँगूठी देखकर नाई का लोभ और बढ़ गया, फिर वही बात महाराज! कुछ चाहिए, नाई को लगा अब महाराज कोई और कीमती वस्तु देंगे। और वही हुआ महाराज ने अपने गले का हार उतार दिया, और वही आगे बढ़ा दिया। यह देखकर नाई की आँखों की चमक बढ़ गई सोचा एक ये छोटा हार क्यों? क्यों ना बड़ा ही निकलवा लूँ। नाई फिर बोला महाराज! कुछ चाहिए। राजा बड़ा अचंभित हुआ फिर भी

राजा ने गले में पड़ा बड़ा रत्नजड़ित हार उतार दिया और देने लगा। नाई के मन का लोभ थोड़ा और बढ़ा फिर और कीमती वस्तु पाने की इच्छा से पुनः बोला महाराज! कुछ चाहिए। राजा बड़ा परेशान हो गया सोचने लगा हजामत ही तो की है। आखिर इसे चाहिए क्या? इतने में एक दास राजा के लिए दूध लेकर आया। राजा ने दूध का गिलास हाथ में उठाया तो दूध में ऊपर काला-काला कुछ तैर रहा था। वह व्यक्ति बोला अरे रुकिये महाराज! इसमें कुछ है। राजा ने पूछा क्या कहा? बोला राजन्! दूध में कुछ है। राजा ने तुरंत वह काला तिनका निकाला और नाई के हाथ पर रखते हुए बोले ये लो कुछ। मैं अब समझ पाया कुछ क्या है।

बेचारा नाई! राजा से कुछ कह न सका और अपने ही लोभ के कारण खाली हाथ लौटना पड़ा।

"तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही"

व्यक्ति का लोभ का गड्ढा इतना विशाल है कि पृथ्वी की समस्त वस्तुएँ भी उसमें समा जाएँ तब भी वह गड्ढा नहीं भर सकता। लोग कहते हैं नरक में वैतरणी नदी बहती है, खून-पीव बहता है जिसमें बड़ा कष्ट होता है, वह हमने अभी नहीं तो किसी भव में जरूर देखी होगी जिसे आज हम भूल गये। किन्तु वर्तमान में हम मानते हैं कि तृष्णा रूपी नदी में जो व्यक्ति जलता है उतना शायद वैतरणी नदी में नहीं जलता। क्योंकि वैतरणी नदी में जलने वाले व्यक्ति के अंदर तृष्णा हो या न हो यह जरूरी नहीं है किन्तु तृष्णा जिसके हृदय में है, तो संभव है वह वैतरणी नदी का निमंत्रण पत्र है, वह वहाँ जा सकता है।

इसलिये जीवन में ऐसी तृष्णा को मत बढ़ाओ जो तृष्णा तुम्हें अपने रथ में बिठाकर के वैतरणी नदी तक ले जाये।

तीसरी बात कही- **'विद्याकामदुहाधेनु'** आचार्य भगवन् श्री जिनसेन स्वामी आदिपुराण में कहते हैं-

विद्यावान् पुरुषो लोके संमतिं याति कोविदैः।
नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम्॥

अर्थात् इस लोक में विद्यावान् पुरुष पंडितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है। जीवन में अच्छी विद्या सदैव सम्मान को प्राप्त होती है। अच्छी विद्या वालों का कभी अपमान नहीं होता, उनके पास वह शक्ति होती है कि वे अपने अपमान को भी अपनी परीक्षा की घड़ी मानता है। जिस व्यक्ति की नासिका कटी हो वही दर्पण की निंदा कर सकता है उसे तोड़ सकता है, जिसकी नासिका सही है, चेहरा शुद्ध है कोई दाग या कालिमा नहीं है तो दर्पण में बार-बार चेहरा देखता है। अच्छी विद्या जिसके पास होती है उससे वह स्वयं भी लाभ को प्राप्त करता है और दूसरों को भी लाभ देता है। समीचीन विद्या एक जाज्वल्यमान दीपक की तरह से होती है। जैसे जाज्वल्यमान दीपक से अंधकार नष्ट हो जाता है, प्रकाश आ जाता है, उस प्रकाश में दीपक अपने अस्तित्व का भी बोध कराता है और सामने वाले व्यक्ति को गन्तव्य तक पहुँचाने के लिये वह प्रकाश निमित्त बन जाता है। वैसे ही विद्या स्व-पर, हेय-उपादेय, कार्य-अकार्य का बोध कराती है।

किसी नगर में धन से निर्धन किंतु ज्ञान का धनी एक विद्वान् रहा करता था। वह हमेशा शास्त्र पढ़ने, काव्य रचना आदि में

ही संलग्न रहता था। एक छोटा सा घर जिसमें मात्र दो कक्ष थे। दूसरे कक्ष में स्वयं अध्ययन करता था और एक में उसकी पत्नी व बच्चे रहते थे। बरसात का मौसम था एक दिन जोर से बारिश आई। छत से पानी टपक रहा था, बच्चे भी भूखे थे। पत्नी गुस्से में उसके पास गई और बोली ये पढ़ने लिखने से कुछ नहीं होगा। छत से पानी टपक रहा है, बच्चे भूख से रो रहे हैं इन किताबों से पेट नहीं भरेगा। वह विद्वान् कहता है शांत हो जाओ। विद्या स्व-पर हितकारी होती है। ये श्लोक बाजार में ले जाओ और इसे बेचकर खर्चा चलाओ। पत्नी बोली कौन खरीदेगा इसे? बोला बेचकर तो देखो। वह श्लोक लेकर बाजार में एक सेठ की दुकान पर पहुँची। उस श्लोक का भाव था "उकताए काम नसाए, धीरज काम बनाए"।

सेठ ने पढ़ा पुनः बोला अरे! ये तो मैं भी जानता हूँ, ना चाहिए। पास में बैठे मुनीम जी ने भी पढ़ा और बोले सेठ जी खरीद लीजिए, बहुत अनमोल है। मुनीम के कहने से सेठ जी ने वह खरीद लिया। वह स्त्री बहुत प्रसन्न हुई। सेठ ने फ्रेम कराके अपने कक्ष में उसे लगवा दिया। एक दिन सेठ जी के मन में व्यापार वृद्धि की आई। सोचा विदेश जाकर खूब धन कमाऊँ और कुछ दिन बाद ही धनार्जन हेतु विदेश चल दिए। वहाँ खूब धन कमाया लगभग 12 वर्ष बीत गए। सेठ को परिवार की याद आने लगी, सोचा अब घर चलना चाहिए। सेठ बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने घर पहुँचा। रात्रि का समय था, दासी ने द्वार खोला। सेठ चुपचाप अपने कक्ष में पहुँचा और देखा उसकी पत्नी किसी पुरुष के साथ सो रही है। सेठ से रहा ना गया उसने क्रोध में म्यान से तलवार निकाली। जैसे ही उन पर प्रहार करने

लगा वह तलवार उस फ्रेम से टकरा गयी जिसमें श्लोक लिखा था। सेठ ने पढ़ा "उकताए काम नसाए, धीरज काम बनाए"। उसने अपनी पत्नी को जगाया। पत्नी ने देखा वर्षों बाद पति लौटकर आएँ हैं तो फूली न समायी और बोली बेटा उठो तुम्हारे पिताजी आए हैं। सेठ जी यह सुनकर आश्चर्यचकित रह गए बोले यदि उस दिन यह श्लोक न लिया होता तो मैं अपने ही हाथों अपने परिवार को नष्ट कर डालता।

महानुभाव! विद्या स्व-पर का हित करने वाली होती है। इसलिए कहा है-

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वेविधे प्रतिपत्तये।
आद्या तस्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्वियते सदा॥

आजीविका के लिए दो विद्याएँ मुख्य हैं 1. शास्त्र विद्या (पढ़ना-लिखना) 2. शस्त्र विद्या। इनमें से शस्त्र विद्या तो बुढ़ापे के समय मनुष्य की हँसी कराती है और शास्त्र विद्या मनुष्य का सदा आदर-सत्कार कराती है। अतः जीवन को सुखी, समृद्धशाली और आदरणीय बनाने के लिए मनुष्य को अक्षरात्मक विद्या अवश्य ही ग्रहण करनी चाहिए। विद्या से युक्त मनुष्य अपने सर्व मनोरथों को सिद्ध करने में समर्थ है, सर्व ओर सम्मान प्राप्त करता है, विद्या से जीवन समीचीन बनता है वस्तुतः विद्या को कामदुधाधेनु कहा गया।

अगली बात है-**'संतोषोनंदनं वनं'**- संतोष ही वास्तव में नंदन वन की तरह जीवन में सुख देने वाला है। जिसे जीवन में संतोष के अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जायें तब भी उसे सुख नहीं मिल सकता। संतोष से सुख मिलता है। कहा

जाता है नंदन वन वह होता है जहाँ अशोक, आम्र, सप्तपर्णी, चम्पा ये चार वृक्ष जहाँ होते हैं उसे नंदन वन कहते हैं। वहाँ आनंद आता है। आम्र वन में आम्र फल को देखकर शांति मिलती है, अशोक वृक्ष जैसे सभी शोकों को दूर करने वाला हो। चम्पा के पुष्प वातावरण को महका देते हैं। सप्तपर्णी वृक्ष के नीचे बैठने से भावना धर्ममय होती है, विशुद्ध होती है। उसके जीवन से तृष्णा आदि विकारी भाव विशेष उद्वेग को प्राप्त नहीं होते। जब व्यक्ति की तृष्णा समाप्त हो जाती है, अंतहीन इच्छाएँ अंत को प्राप्त हो जाती हैं, जब कुछ भी प्राप्त करने की आशा नहीं रहती तब वह नि:सीम आनंद का अनुभव करता है। कहा है-

"अकृत्वा परसंतापं, अगत्वा खले नम्रतां।
अनुतसृज्य सतां वर्त्म, यत्स्वल्पमपि तद्बहो॥"

दूसरों को सताये बिना, दुष्ट के आगे झुके बिना, सत्पुरुषों का अपमान किए बिना जो कुछ भी मिल जाए वह बहुत है। जो मिल गया वही पर्याप्त है यही संतोषी वृत्ति है और इसी संतोषी वृत्ति से संतों सी प्रवृत्ति भी हो जाती है।

महानुभाव! यह संतोष रूपी नंदनवन ऐसा है जिसे प्राप्त करके व्यक्ति के जीवन में शोक नहीं आता, जीवन में खेद नहीं होता, व्यक्ति अशांति और संक्लेशता को प्राप्त नहीं होता। संतोष को प्राप्त करके उसे क्रोध नहीं आता, मान नहीं आता, मायाचारी नहीं करता, लोभ नहीं करता, उसके ये अवगुण नष्ट हो जाते हैं। संतोष आते ही उसके जीवन में क्षमा आती है, विनय आती है, सरलता सहजता आती है और संतोष वृत्ति आती है। संतोषी व्यक्ति आनंद का अनुभव करता है, वह सोचता है जो मेरा था

वह मुझे प्राप्त हो गया, अब मुझे कुछ न चाहिये। जो कुछ नहीं चाहता, उसे सब कुछ अंदर में अपने आप मिल जाता है। और जो बाहर से कुछ चाहता है वह अंदर की वस्तु का लाभ नहीं ले पाता।

महानुभाव! ये चार बातें कि क्रोध सबसे बड़ा यमराज है, तृष्णा सबसे बड़ी वैतरणी नदी है, अच्छी विद्या कामधेनु गाय की तरह से है और संतोष नंदन वन की तरह आनंद देने वाला है। आप सभी इन चारों बातों का ध्यान रखें व अपने जीवन को सफल व सार्थक करने का पुरुषार्थ करें। ऐसी मंगल भावना भाते हुये अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

संतोष किसमें करें, किसमें नहीं

महानुभाव! जीवन में कुछ ऐसी वस्तुयें हैं जिन्हें प्राप्त कर लेने पर ही जीवन सफल और सार्थक होता है। जीवन में कुछ ऐसा भी है जिसे छोड़े बिना जीवन का सम्यक् सदुपयोग या जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो पौद्गलिक वैभव, धन-सम्पत्ति का संग्रह करते हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जो आध्यात्मिक विद्या के बल से आत्मा के वैभव को प्रकट करने का सम्यक्-पुरुषार्थ करते हैं। एक दोहा तो आपने सुना ही है-

गोधन गजधन बाजधन, और रतनधन खान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूलि समान॥

चाहे बहुत सारी गायें हों, हाथी-घोड़े हों, महल हों, किले हों, बहुत सेना-राज्य हों, पुत्रादि हों ये सब तब तक अच्छे लगते हैं जब तक संतोष धन की प्राप्ति नहीं हुयी ज्यों ही जीवन में संतोष धन की प्राप्ति हो जाती है ये सब धूल-मिट्टी के समान दिखायी देते हैं। जिस व्यक्ति को संतोष धन नहीं मिलता वह बाहर दौड़ता है, वह धन को ऐसे बटोरता है जिससे असंतोष बढ़ता जाये अर्थात् और मिले, और मिले किन्तु संतोष मिलते ही कहता है बस अब विराम। अब क्या करना है, जो है उसे भी छोड़कर मैं जा रहा हूँ।

महानुभाव! जिस प्रकार, जिस व्यक्ति को माँ का प्यार नहीं मिला वही कहता है मेरे जीवन में प्यार की कमी है वह दूसरों से प्यार की तलाश करता है और जिसे माँ का स्नेह मिल गया है वह कहता है मेरी माँ ने मुझे इतना स्नेह दिया है अब मुझे

किसी और के स्नेह की आवश्यकता नहीं। जिसे वीतरागी देव की भक्ति करने में आनंद आ रहा है, सुख शांति का अनुभव हो रहा है वह संसार में और जगह भटकता नहीं है और जिसे भगवान् की भक्ति में आनंद नहीं आ रहा वह संसारी प्राणियों की भक्ति करता है। जिसे तत्त्वज्ञान हो गया वह शब्द ज्ञान को महत्त्व नहीं देता, पुद्गल को महत्त्व नहीं देता। तत्त्वज्ञानी तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी को महत्त्व नहीं देता।

सन्निधौ निधयस्तस्य, कामगत्यनुगामिनी।
अमराः किंकरायंते, संतोषो यस्य भूषणं॥ (योगशास्त्र, नीति)

संतोष जिसका भूषण है, समृद्धि उसके पास रहती है, कामधेनु उसके पीछे चलती है और देव भी दास के समान आज्ञा मानते हैं।

संतोष जहाँ रहता है, वहाँ अन्य किसी और की आवश्यकता नहीं। जहाँ संतोष नहीं है वहाँ उसके अलावा सबकी आवश्यकता है। जैसे जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहाँ दीपक, मोमबत्ती, लालटेन, टार्च, हैलोजन, मरकरी या अन्य किसी कृत्रिम प्रकाश की आवश्यकता नहीं है किन्तु जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं है वहाँ सभी उपकरणों की आवश्यकता है। जहाँ समुद्र है वहाँ अन्य किसी जलाशय की आवश्यकता नहीं, जहाँ समुद्र नही है वहाँ समुद्र को छोड़कर सबकी आवश्यकता है चाहे वह नदी हो, झील, तालाब हो या कुआँ-पोखर हो। ऐसे ही संतोष अपने आप में इतना बलिष्ट है कि जब वह आ जाता है फिर कुछ नहीं चाहिये। जैसे चक्रवर्ती राजा भरत आ गये तो पूरी छः खण्ड की सेना की कोई आवश्यकता नहीं और वे नहीं हैं तो पूरी सेना की आवश्यकता है। बारात में दूल्हा नहीं है तो पूरी बारात मिलकर भी कुछ नहीं

कर सकती है और दूल्हा अकेला है तो पूरी बारात न भी हो, तब भी वह उस कन्या के साथ भाँवर डाल सकता है।

जीवन में संतोष की परम आवश्यकता है। आचार्यों ने कहा तीन चीजें हैं जिनमें व्यक्ति संतोष नहीं करता जबकि करना चाहिये। वह जिंदगी भर तीन के लिये असंतुष्ट रहता है, भटकता रहता है। इनसे तृप्ति के लिये ब्रेक लगाना पड़ता है। वे तीन चीज हैं-

"संतोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने"

तीन में संतोष करना चाहिये अपनी पत्नी में, भोजन में और धन में। व्यक्ति की कामना जब बढ़ती है तब अपनी पत्नी में संतुष्ट न होकर के परायी स्त्री को वासना युक्त दृष्टि से देखता है। स्व स्त्री में संतुष्ट न होकर, पर स्त्री में आसक्त होने वाले मनुष्य रावण के समान दुःख प्राप्त कर, अपयश प्राप्त कर नरकगामी होते हैं और स्वस्त्री में संतुष्टजन सेठ सुदर्शन के समान अमरत्व को प्राप्त करते हैं। इतिहास उठाकर के देखें जो राजादि पर स्त्री में आसक्त हुए उन्हें तब जो दुःख अपयश व राज्य का नाश आदि प्राप्त हुए वह तो दृष्टव्य हैं ही किन्तु आज भी श्याम अक्षरों में उनका नाम अंकित है, इसके विपरीत शीलव्रत पालन में दक्ष राम मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हैं। स्वपत्नी में संतुष्ट राजादि गौरवान्वित हुए व अपने कुल की गरिमा को भी वृद्धिंगत किया।

राजा के छः अंतरंग शत्रुओं में काम को लिया क्योंकि कामासक्त राजा अपने राज्य को स्वयं नष्ट कर डालता है। मनुष्य बाहरी शत्रुओं पर तो सरलता से अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता

है किंतु अंतरंग शत्रुओं को पराजित करना भी उतना ही आवश्यक है। क्योंकि बाहरी शत्रु मात्र बाहरी संपत्ति को छीन सकता है किंतु अंतरंग का यह शत्रु व्यक्ति के समस्त गुणों को, यश, पद, प्रतिष्ठा को नष्ट कर डालता है। चक्रवर्ती की 96000 रानियाँ होती हैं। जो चक्रवर्ती स्वयं पर नियंत्रण करते हैं दीक्षा लेते हैं वे तो तृप्त हैं किन्तु जो नहीं हैं वे नरकगामी होते हैं उन्हें 96000 क्या 96 करोड़ भी मिलें तब भी तृप्ति नहीं हो सकती। कोई भी मनुष्य काम सेवन से तृप्त नहीं होना चाहता। काम में काम की अग्नि अतृप्त रहती है, कितना भी ईंधन डालते जाओ वह कामाग्नि कभी मना नहीं करती, वह अग्नि केवल तत्त्वज्ञान के जल से बुझायी जाती है।

दूसरी बात व्यक्ति भोजन में भी संतुष्ट नहीं होता। भोजन करके उठा पेट में भले ही जगह नहीं है किन्तु मन में बहुत जगह है अर्थात् तृप्ति नहीं होती। रसनेन्द्रिय के वश में रहने वाला जीव भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान न रखते हुए सभी पदार्थों को ग्रहण कर लेता है और जिस प्रकार अग्नि ईंधन से तृप्त नहीं होती, सबको जलाती चली जाती है उसी प्रकार आसक्त मानव की भोजन से भी तृप्ति नहीं होती। संतुष्टि प्रतीक है दैवीय प्रवृत्ति का, संतुष्ट व्यक्ति या तो देवगति से आया है या देवगति में जाने की तैयारी कर रहा है। आयुर्वेदाचार्य भी कहते हैं कि भोजन चबा-चबाकर करना चाहिए। अति आसक्ति से भोजन करने वाला चबाने का विशेष पुरुषार्थ नहीं करता। चबाकर विशुद्ध परिणामों के साथ, टी.वी. आदि न देखते हुए न्यूज पेपर, मैगज़ीन आदि न पढ़ते हुए भोजन को अमृत मानकर ग्रहण करने वाला वास्तव में भोजन के सही आनंद को ले पाता है और वह

भोजन संतुष्टिकारक भी होता है। व्यक्ति के पास कला होनी चाहिए कि वह स्वाद हीन भोजन को भी स्वाद के साथ ले सके। जिन परिणामों के साथ व्यक्ति भोजन करता है वह वैसा ही प्रभाव दिखाता है। टैंशन में लिया गया भोजन औषधि का काम तो करेगा ही नहीं, संभव है रोग का कारण भी बन जाए। एक सा भोजन करने के पश्चात् भी कई बार व्यक्ति के स्वभाव में अंतर देखा जाता है उसका कारण है उसने किन परिणामों से भोजन ग्रहण किया है। यदि भोजन बनाना एक कला है तो भोजन करना भी एक कला है। तो भोजन जैसा आए उसमें संतुष्टि रखें। आयुर्वेद के ज्ञाता कहते हैं एक भाग भोजन व दो भाग पानी ग्रहण करना चाहिए और एक भाग वायु के लिए छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति स्वस्थ रहता है।

तीसरी बात- व्यक्ति धन में तृप्त नहीं होता। कितना भी धन मिलता जाये चाहे पूरा राज्य, महल स्वर्णनिर्मित भी हो जाये तब भी यही सोचेगा अभी मेरा वैभव स्वर्ग से कम है अभी और आ जाना चाहिये। व्यक्ति पूरा जीवन धनार्जन में निकाल देता है किन्तु उसकी तृप्ति नहीं हो पाती। जितना धन कमाता है उससे और अधिक प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। धन में आसक्त रहने वाला दुर्गति का पात्र होता है। जिन चक्रवर्ती आदि ने भोगों का परित्याग नहीं किया उन सभी ने नरकादि के दु:खों को भोगा है। तो व्यक्ति को धन में संतुष्ट रहना चाहिए। कहना चाहिए हे प्रभु! मेरे पास जो कुछ भी दौलत है सब तेरी बदौलत है। जो मेरे पास है वह बहुत है। तो व्यक्ति इन तीनों स्त्री, भोजन व धन में कभी संतोषी नहीं बन पाता और इन तीनों की पूर्ति करने में ही अपने तीनों पन निकाल देता है। बचपन, यौवन, और वृद्धापन तीनों

निकल जाते हैं, मृत्यु जब आकर दस्तक देती है तब लगता है वास्तव में, मैंने तीनों के लिये अपना जीवन बर्बाद कर दिया। यदि इन तीनों पर पूर्ण विराम लगा देता तो मुझे भटकना नहीं पड़ता।

व्यक्ति मकान में रहने के लिये जिंदगी भर दर-दर भटकता रहा, पंचेन्द्रिय विषयों की प्राप्ति के लिये जीवनभर बेचैन रहा और यथेच्छमनोनुकूल धन के लिये वह कण-कण जोड़ता रहा किन्तु कणभर का भी सम्यक्भोग नहीं किया, सब छोड़कर चलता बना। महानुभाव! इसीलिये आचार्यवंत, संत-महंत कहते हैं इन तीन में संतोष करो यदि सुख की वांछा करते हो तो। आप एक बार इन तीनों पर विराम लगाकर प्रैक्टिकल करके देखो कि जो मेरी थाली में भोजन आ गया उसमें ही रस निकालने (मानने) की कोशिश करूँगा, जो भी स्त्री मुझे पत्नी रूप में प्राप्त हुयी है मैं उसी में संतुष्ट रहूँगा और उसे संतुष्ट करूँगा अपने मन को इधर-उधर भटकने नहीं दूँगा, तीसरी बात जो धन मुझे मेरे भाग्य से प्राप्त हुआ है, और न्यायपूर्वक जो धन मुझे मिलता है मैं उसे ही ग्रहण करूँगा। मैं अपनी तृष्णा को बेलगाम नहीं छोडूँगा कि वे कहीं भी दौड़ती जायें। यदि पक्षी छोड़ दिया जाये तो उसे आकाश में उड़कर फिर ठिकाना नहीं मिलता है, अर्थात् समुद्र के किनारे से उड़ा और पुन: उड़कर के समुद्र में ही गिरकर मर गया। दूसरे व्यक्ति ने पक्षी को छोड़ा नहीं, पिंजड़े में पक्षी को रखा, स्वयं जहाज में बैठ गया। पक्षी को लग रहा है मैं बंधनबद्ध हूँ किन्तु वह उसकी सुरक्षा है, छोड़ दिया जायेगा तो सुरक्षा न हो सकेगी।

महानुभाव! ऐसे ही यदि संसारी प्राणी अपने जीवन में मर्यादा कर ले कि मैं वैध रूप से, भारतीय संस्कृति की मान मर्यादा के

अनुरूप ही स्त्री रखूँगा, उससे ज्यादा नहीं। यदि अवैध रूप से आपने कृत्य नहीं किया केवल परिणाम भी किया है तब भी पाप का बंध तो आपको होगा ही।

रूखा सूखा खाय के, ठंडा पानी पीव।
देख परायी चूपड़ी, मत ललचावे जीभ॥

दूसरे की थाली में क्या रखा है उसे मत देखो अपनी थाली में जो रखा है उसे देखो, उसे खाकर संतोष धारण करो। और रही बात धन की, तो धन किसी की तृप्ति नहीं करता, विराम लगाना पड़ता है। इंद्रों का, चक्रवर्ती का वैभव असीम है वे भी संतुष्ट नहीं होते और गरीब की धनप्राप्ति की भूख भी उतनी ही है जितनी धनिक की है तो फिर धन ने किया क्या? जब दो कोड़ी नहीं थी तब भी चाहत यही थी कि धन मिले-धन मिले, और अब दो करोड़ भी हो गये तब भी यही कहते हो धन मिले-धन मिले।

जहाँ जन्म के समय खड़े थे, आज मृत्यु भी उसी स्थान पर आ गयी किन्तु जो प्यास धन की जन्म के साथ रही वह आज मृत्यु आने तक भी ज्यों की त्यों है, तो बताओ तुमने जीवन में क्या किया। धन की प्यास बुझी नहीं वरन् बढ़ती गयी। हो सकता है जब गरीब थे तब केवल 4 रोटी और पानी माँगते थे, आज अमीर हो गये तो चार करोड़, चालीस करोड़, चार सौ करोड़ या इससे भी ऊपर सीमा लाँघ जायें तब भी तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये आचार्यों ने कहा- इन तीनों पर विराम लगाओ। विशेष विराम लगाओ, विराम लगाते ही तुम्हें 'राम' मिल जायेंगे। वह कहीं और नहीं तुम्हारी ही आत्मा में विराजमान 'आतमराम'

मिलेंगे। यदि विराम नहीं लगेगा तो आपके जीवन में न तो आराम आयेगा, न राम आयेगा, न विश्राम आयेगा, बस दिन रात काम सतायेगा तुम्हें दाम की भूख, नाम की भूख लगी रहेगी। फिर चाहे बादाम खाओ या आम खाओ तुम्हें तृप्ति नहीं मिलेगी। इसलिये इन तीन कामों में विराम लगाना बहुत जरूरी है।

महानुभाव! अब वे तीन बातें हैं जिन पर विराम न लगाओ तो चलेगा। वे हैं- **तेषुचैव न कर्त्तव्योऽध्ययने तपदानयोः"** अध्ययन, तप व दान। आप अध्ययन कर रहे हैं, उस समय मन आपका शांत रहता है, इंद्रियाँ खटपट नहीं मचाती, कषायों का उद्वेग नहीं आता इसलिये आचार्यों ने लिखा है- "स्वाध्यायः परमो तपः" स्वाध्याय परम तप है, स्वाध्याय करने में हम मात्र जिह्वा से नहीं पढ़ते, आँखों से नहीं पढ़ रहे, अकेले मन से नहीं पढ़ रहे वरन् ऐसा लगता है हमारी आत्मा पढ़ते-पढ़ते हमारे संग चल रही है। जब कभी आप प्रथमानुयोग पढ़ते हैं तो लगता है अभी और पढूँ इसके आगे क्या हुआ। चाहे चरणानुयोग पढ़ा, चाहे करणानुयोग, चाहे द्रव्यानुयोग ज्यों-ज्यों पढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों उन्हें जानने की अभीप्सा बढ़ती जाती है। जब अध्ययन में मन लगता है तो धर्म बढ़ता है अधर्म से मन हटता है। मन धर्म में बढ़ना भी चाहिये। जब धर्म में मन आगे कदम बढ़ाता चला जायेगा तो पीछे के विकारों से व विकृतियों से, वासनाओं से, व्यसनों से, बुराईयों से मन परे हो जायेगा। उस मन को धर्मक्षेत्र में आगे ले जाओ और तत्त्वज्ञान में क्रीड़ा कराओ।

"श्रुतस्कंधेधीमान् रमयतु मनो मर्कट ममुं"

जैसे कोई बंदर फलों से लदे वृक्ष पर क्रीड़ा करता है तो उसे

बहुत आनंद आता है ऐसे ही स्वाध्याय प्रेमी को, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी को, शास्त्रों के जानकार को, अध्ययन वेत्ता को, विद्यार्थी को अध्ययन करने में बहुत आनंद आता है। आँखें दु:खने लगें तब आँख बंद करके चिंतवन करता है, पुन: पढ़ने लगता है, डूब जाता है।

महानुभाव! ज्ञानवान् मनुष्य स्वयं की रक्षा भी करने में समर्थ है और दूसरों की भी। ज्ञान से व्यवहारिक जीवन में भी रक्षा होती है और कर्मों से भी रक्षा होती है, ज्ञान से कर्म निर्जीर्ण होते हैं। आचार्य भगवन् श्री योगीन्दु देव परमात्म प्रकाश ग्रंथ में कहते हैं-

णाणविहीणहँ मोक्खपउ जीवमकासु वि जोइ।
बहुएँ सलिलविरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ॥

ज्ञान से हीन मनुष्य मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि पानी बिलौने से हाथ चिकने नहीं होते।

एक बार की बात है राजा भोज के दरबार में एक अत्यंत गरीब व्यक्ति रहता था। वह अपने परिवार का भरण-पोषण करने में भी समर्थ नहीं था। गरीबी और दु:खों से घबराकर एक दिन वह आत्महत्या के विचार से नदी किनारे पहुँचा। वहाँ एक किसान अपने खेत से मक्का के सीरे चुन रहा था। उसने उस गरीब व्यक्ति को तीन सीरे दान स्वरूप भेंट किये। उस गरीब व्यक्ति ने सोचा क्यों ना राजाभोज को ये भेंटकर कुछ धन प्राप्त कर लूँ। इसी आशा से वह महाराज के महल की ओर चल दिया। मार्ग में थक जाने से वह एक पेड़ के नीचे विश्राम के लिए ठहर गया। तभी किन्हीं बालकों ने अवसर मिलने पर उन सीरों को निकालकर उनके स्थान पर तीन अधजली लकड़ियाँ

रख दीं। उस व्यक्ति को ज्ञान न हुआ और वह पोटली लेकर दरबार में चला गया। उसने राजा को पोटली भेंट की, वह खुलवायी गई। देखा तो उसमें तीन अधजली लकड़ियाँ थीं। यह देख राजादि क्रुद्ध हो गए और उसे दंड देने की चर्चा चलने लगी। वहीं खड़े कवि कालिदास उस दरिद्र के चेहरे की मासूमियत देख समझ गए कि इसमें इसकी कोई गलती नहीं है। अत: उसकी प्राण रक्षा हेतु वे बोले महाराज! इन तीन लकड़ियों में कुछ तत्त्व छिपा है, ये भारत के तीन महापुरुषों की ओर संकेत करती हैं (1) भगवान् आदिनाथ ने अपने समस्त कर्म जलाकर मुक्ति प्राप्त की। (2) हनुमान ने सोने की लंका जलाकर बुराईयों पर विजय प्राप्त की। (3) अर्जुन ने खाण्डव वन जलाया किन्तु महाराज! आज तक कोई ऐसा महापुरुष नहीं हो सका जिसने विपन्नता को, गरीबी को जलाया हो। राजा भोज ने सोचा कालिदास सही कहते हैं। मैं सारी दुनिया की विपन्नता तो नहीं दूर कर सकता किन्तु कम से कम इस व्यक्ति की विपन्नता तो दूर कर ही सकता हूँ और राजा ने उस व्यक्ति को धन धान्यादि से संपन्न किया।

ज्ञान व्यक्ति का परममित्र है। इसीलिए कहा अध्ययन में, ज्ञानार्जन में कभी विराम नहीं होना चाहिए। एक व्यक्ति अपने पूरे जीवन विद्यार्थी बन करके रहता है। उसे प्रतिपल कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिए। जहाँ सीखना बंद हो जाता है वहाँ व्यक्ति के उत्थान का मार्ग भी अवरुद्ध हो जाता है।

अगली बात कही- 'तप' तप अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार का है। महिलायें तवे पर रोटी सेंकती हैं। यदि वे एक तरफ से सेंक दें, दूसरी और से नहीं सेंकें तो कहेंगे रोटी कच्ची

रह गई। इसी प्रकार केवल अंतरंग या मात्र बहिरंग तप को महत्त्व दें तो वह परिपक्व तप नहीं होगा। दोनों तप ही कल्याण में निमित्त हैं, एक नहीं। सिक्के के दो पहलू होते हैं- एक पहलू के बिना दूसरे का अस्तित्व संदिग्ध है। बहिरंग तप साधन है व अन्तरंग तप साध्य है। साधन और साध्य दोनों इष्ट की सिद्धि होने तक साथ चलते हैं।

तप का अर्थ होता है इच्छाओं का निरोध करना। यदि आपकी इच्छायें इतनी हैं कि मैं विश्व का सम्राट बन जाऊँ, तो अब आप ये कहो कि मैं विश्व का सम्राट नहीं बनना चाहता, (वैसे बन भी नहीं सकते) भारत का बन जाऊँ और यदि उसकी भी नहीं हो तो और कम कर लो, अपने प्रान्त का या नगर का बन जाऊँ, वह भी यदि न बन सके तो अपने घर का सम्राट बन जाऊँ। वैसे तो सही मायने में यह भावना भानी चाहिये कि मैं अपनी आत्मा का सम्राट बन जाऊँ, मुझे कहीं किसी का सम्राट नहीं बनना, इतना संकोच करते जाओ।

'तप' का आशय यही है अपनी इच्छाओं के विस्तार का संकुचन करना। किसी गाय के गले में बँधी रस्सी जितनी लम्बी होती है गाय वहाँ तक चक्कर लगाती है, और रस्सी ज्यों-ज्यों कम होती चली जाती है त्यों-त्यों गाय का चक्कर भी कम हो जाता है। ऐसे ही जब व्यक्ति अपने मन की रस्सी को, अपनी इच्छाओं को कम करता चला जाता है तो उसे भी संसार का चक्कर कम लगाना पड़ता है उन इच्छाओं का ह्रास ही तप की वृद्धि होना है।

अगली बात कही 'दान'- आपने जितना कमाया उसमें से

जितना चाहिये उतना रख लो शेष को परहित के लिये विसर्जित कर दो। बुद्धिपूर्वक, भक्तिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, परोपकार की भावना से, धर्म भावना से जिसे आवश्यकता है उसे दे दो, क्योंकि यह धन-वैभव नष्ट हो जायेगा, यह शाश्वत रहने वाला नहीं है। तुम्हारी अगली पीढ़ी अपने पुण्य का फल भोगेगी इसलिये आज जिसको आवश्यकता है उसे दे दो। आपके पास 100 कलश पानी भरा रखा है और हजार व्यक्ति प्यासे बैठे हैं तो उस जल में से अपने लिये रखकर शेष को सभी को पिला दो। सिर्फ अपने पास रखना बुद्धिमानी नहीं है। ऐसे ही दान भी ज्यादा से ज्यादा करने का भाव रखना चाहिये। इसीलिये यहाँ कहा-

तीन थान संतोष कर, धन भोजन अरु दार।
तीन संतोष न कीजिये, दान पठन तपाचार॥

महानुभाव! धन, भोजन व स्त्री में संतोष को धारण करें, अध्ययन, तप व दान में प्रवृत्त रहें। यही वास्तव में आत्म शांति का मार्ग है, आप सभी इसी मार्ग के पथिक बनें ऐसी शुभभावनाओं के साथ.....।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

श्रावक के कर्त्तव्य

महानुभाव! जीवन में जो कोई भी व्यक्ति उन्नति के सोपानों पर चढ़ता है या जिसने भी उन्नति के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त किया है, वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करके ही वहाँ तक पहुँचा है। बिना कर्त्तव्य का पालन किये वहाँ तक कोई पहुँच नहीं सकता। कर्त्तव्य प्रत्येक प्राणी के अलग-अलग होते हैं, जो जिस पद पर आसीन है उसके अनुकूल कर्त्तव्य भी अलग होते हैं। पिता के कर्त्तव्य पिता को पालन करने होते हैं, पुत्र का कर्त्तव्य पुत्र को पालन करना होता है, राजा के कर्त्तव्य राजा को, प्रजा के कर्त्तव्य प्रजा को, गुरु के कर्त्तव्य गुरु को, शिष्य के कर्त्तव्य शिष्य को करने होते हैं। बिना कर्त्तव्य का पालन किये तो संसार में किसी को सुख शांति का अनुभव नहीं हो सकता। कर्त्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति लोक में तो प्रशंसा का पात्र होता ही है, वह स्वयं में भी ऐसे अचिन्त्य आनंद का अनुभव करता है, जो आनंद उसे कर्त्तव्य का उल्लंघन करने पर भी प्राप्त नहीं होता।

कर्त्तव्य का पालन करने से जो आनंद आता है वह कर्त्तव्य हीनता से नहीं। जैसे यदि दूध या खीर में जितनी मात्रा में आवश्यकता है उतनी शक्कर डाल दी जाये, उससे वह वस्तु अच्छी लगती है, कम डालो तब भी ठीक नहीं लगती, ज्यादा डाल दो तब भी रुचिकर नहीं लगती। सब्जी में जितना नमक अपेक्षित है उतना डाला जाये तो सब्जी अच्छी लगती है उससे कम में भी आनंद नहीं, और ज्यादा डाल दो तो खाया नहीं जा सकता।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जितने कर्त्तव्य हैं, उतने कर्त्तव्य

का पालन उसे करना चाहिये। कर्त्तव्य के बिना संसार में कोई जीव नहीं हो सकता और न ही होना चाहिये। जो जहाँ है वह वहाँ देखे कि उसके वहाँ क्या कर्त्तव्य हैं। कर्त्तव्य का संबंध द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से भी है। किस स्थान पर उसका क्या कर्त्तव्य है, किस घटना के समय उसका क्या कर्त्तव्य था, किस अनुकूलता प्रतिकूलता में क्या कर्त्तव्य था, इन कर्त्तव्यों का निर्धारण समय और स्थान के अनुसार भी होता है, तथा जो व्यक्ति है वह किस सामर्थ्य से युक्त है इसके अनुसार भी होता है, तथा किन परिणामों से वह कर रहा है इस पर भी निर्भर होता है।

कर्त्तव्यशील श्रावक देवताओं के द्वारा भी पूजा-प्रतिष्ठा व सम्मान को प्राप्त होते हैं। कर्त्तव्य से रहित साधक उस प्रकार की पूजा-स्तुति-प्रशंसा के पात्र नहीं हो सकते। कर्त्तव्यहीन राजा को पद से च्युत कर दिया जाता है और कर्त्तव्यशील सेवक प्रजा में न केवल प्रशंसा का पात्र होता है, अपितु वह पुरस्कार का पात्र भी होता है। कक्षा एक में पढ़ने वाला विद्यार्थी यदि अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुये अच्छे से पढ़ता है तो उसे स्कूल के प्रधानाध्यापक के द्वारा, समाज के गणमान्य व्यक्तियों द्वारा व घर के मुखिया के द्वारा पुरस्कार दिया जाता है। यदि स्कूल का प्रधानाध्यापक अपने कर्त्तव्यों की चोरी करे, तब एक छोटा सा व्यक्ति भी उसकी निंदा करने लगता है, उसका कोई सम्मान नहीं करता। प्रारंभ में भले ही कोई सम्मान करे किन्तु शनैः शनैः सम्मान की भावना उसके प्रति नष्ट हो जाती है।

महानुभाव! जो श्रावक नित्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं यहाँ श्रावक से आशय है जो गृहस्थी में रहते हैं श्रद्धावान्,

विवेकवान् व क्रियावान् होते हैं। जो अपने प्रभु परमात्मा, अपने धर्म, अपने शास्त्र व अपने गुरुओं के प्रति श्रद्धा रखते हैं, जो प्रत्येक क्रिया को विवेक पूर्वक करते हैं किसी आवेग या उत्तेजना में नहीं करते। एक क्षण के लिये भी की गयी आवेग व उत्तेजना की क्रिया न केवल इस भव को बर्बाद करेगी, हो सकता है आगे के असंख्यात भव भी बर्बाद कर सकती है और हो सकता है सुदीर्घकाल तक आपको दु:खद कष्टों को भोगना पड़े। किसी शायर ने ठीक कहा-

तवारीखी में कुछ ऐसे मंजर भी नुमाया हैं।
जहाँ लम्हो ने खता की, सदियों ने सजा पायी।।

एक क्षण में कोई गलत काम कर दिया, उसकी सजा सदियों तक भुगतनी पड़ती है। भगवान् महावीर स्वामी के जीव ने मारिची की पर्याय में एक गलत संदेश दे दिया कि आत्मा का कल्याण तो कैसे भी हो सकता है, इस प्रकार से तप-संयम-साधना करना जरूरी नहीं है, मेरी शरण में आ जाओ, मैं सबका कल्याण कर दूँगा, मैं सबको मोक्ष पहुँचा दूँगा, मैं भी तीर्थंकर बनूँगा। उसका परिणाम ये हुआ कि तृतीय काल के अंत में पैदा होने वाला मारिची का जीव थोड़े से काल में मोक्ष जा सकता था, किंतु एक गलती के कारण पूरा चौथाकाल भ्रमण करता रहा।

राहे शौक में उठाया था एक गलत कदम।
ता उम्र मंजिलें हमें खोजती रहीं।।

न मंजिले हमें पा सकी न हम मंजिल को पा सके। ऐसे ही एक छोटी सी गलती, अपने कर्त्तव्य की हीनता व्यक्ति को कहाँ से कहाँ तक गिरा सकती है। जो व्यक्ति आज टॉप पर पहुँच

गया है, यदि उसका एक पैर फिसल जाता है तो संभावना है वह पर्वत की चोटी के बाजू में बने हुये उस समुद्र के तल तक भी पहुँच सकता है। इसलिये अपने कर्त्तव्य में कभी चूक मत करो। और कर्त्तव्य पालन का अहंकार भी मत करो। जो कर्त्तव्य का पालन कर रहा है उसे उसकी प्रेरणा दो। किसी को अपने कर्त्तव्य से च्युत मत करो। तो गृहस्थ का धर्म है वह अपने कर्त्तव्य का पालन करे।

सद्गृहस्थ अपने घर में प्रेम-वात्सल्य के साथ मिलजुल के रहता है। मिल बाँट कर भोजन करता है, प्रभु की आराधना करता है वह गृहस्थ है, तभी उसकी शोभा है, लोग उसका सम्मान करते हैं। इसी बात को दो हजार वर्ष पहले अध्यात्म योगी आचार्य भगवन् कुन्दकुन्दस्वामी जिन्होंने न केवल अपनी आत्मा को आध्यात्मिक विद्या से परिपूरित किया वरन् उन्होंने अनेकों साधु-साध्वियों को भी उस तत्त्वज्ञान से लाभान्वित किया। न केवल उस समय अपितु आज तक उनके द्वारा लिखे हुये साहित्य लोगों के लिये आध्यात्मिक विद्या के साहित्य की श्रेणी में उच्चकोटि के माने जाते हैं। वे आचार्य भगवन् जिन्होंने मूलभाषा प्राकृत में चौरासी पाहुड़ों की रचना की, वहीं उन्होंने गृहस्थों के कर्त्तव्य भी कहे। उन्होंने ही नहीं अपितु मुझे लगता है विश्व में जितने भी धर्म हैं वे भी दो बातों को अनिवार्य कहते हैं। लोक व्यवहार में एक बात सुनने में आती है-

"कुछ दान पुण्य करो, दान पुण्य के बिना कल्याण नहीं"

दान तो दान है ही, पुण्य से आशय है पूजा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी भी इसे ऐसे ही कह रहे हैं-

जिणपूया मुणिदाणं करेदि जो देदि सत्तिरूवेण।
सम्मादिट्ठी सावय-धम्मी सो होदि मोक्खमग्गरदो॥रयणसार॥

श्रावक व श्रमण दोनों के लिये महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'रयणसार' में आचार्य भगवन् सबसे पहले कह रहे हैं- **'जिनपूजन'** उसकी पूजा करो जिसने जीत लिया है स्वयं को व इन्द्रियों को। उसकी पूजा करो जिसमें राग-द्वेष-मोह का अंश भी नहीं, जो संसार परिभ्रमण को नष्ट कर चुके हैं या नष्ट कर रहे हैं, जो संसार से मुक्त हो चुके या जिनका मुक्त होना निश्चित है जिन्हें कर्मों का क्षय करके मोक्ष जाना ही है ऐसे जिनेन्द्रप्रभु की, अरिहंतों की, सर्वज्ञ प्रभु की आराधना करो। बिना पूजा के किसी की आत्मा पूज्य नहीं बनती है, बिना पूजा के आत्मा में विद्यमान विषय कषायों का उपशमन नहीं होता। बिना पूजा के पाप नष्ट नहीं होते जैसे दिया सलाई के बिना या अग्नि के किसी निमित्त के बिना दीपक नहीं जलता ऐसे ही बिना पूजा के पापों का नाश नहीं होता। गृहस्थ प्रभु परमात्मा के सामने अपने द्रव्य का क्षेपण करता है अपना सर्वांग समर्पित करता है। साधक प्रभु का ध्यान लगाते हैं उनकी भक्ति करते हैं, उनके पास द्रव्य नहीं क्योंकि उन्होंने सब कुछ त्याग कर दिया वे हाथ जोड़कर, प्रभु के गुणों का चिंतवन करते हुये उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देते हैं, यह उनकी पूजा है।

गृहस्थ परमात्मा को न माने, उनको न पूजे, उनकी भक्ति स्तुति आदि न करे तो फिर बताओ वह अपने पापों को कहाँ धोयेगा। अरे! रक्त का दाग तो जल से ही धुलता है, रक्त का दाग कभी रक्त से नहीं धुलता। गृहस्थ जीवन में किये जाने वाले सुबह से शाम तक के आरंभ-सारंभ के कार्यों में बहुत सारे पाप

का संचय हो जाता है, उन पापों के प्रक्षालन के लिये जब प्रभु परमात्मा के चरणों में माथा टेक देते हो, हृदय अर्पण कर देते हो, और अपनी इन्द्रियों को वहाँ समर्पित कर देते हो तब निःसंदेह वह व्यक्ति आत्म कल्याण का पथिक बन ही जाता है।

अगली बात कही मुनियों को दान देना। मुनि अर्थात् जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त होकर के ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहते हुये स्व-पर के कल्याण में संलग्न रहते हैं, उन्हें संन्यासी कहो, साधु कहो, संत-महात्मा कहो या किसी भी नाम से पुकारो, उन्हें दान देना जरूरी है, क्योंकि वे स्वयं धर्ममूर्ति हैं। उन्हें आहारादि दान देना चाहिये।

दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणं- दान परंपरा से मोक्ष का कारण है।

एक बार एक स्थान पर किन्हीं मुनिराज का चातुर्मास चल रहा था। वे बहुत ही तपस्वी, ज्ञानी थे। चातुर्मास के दौरान वहाँ के सभी श्रावकों के यहाँ उनका आहार हुआ। किन्तु एक कंजूस सेठ था, उनके यहाँ उनका आहार कभी नहीं हुआ क्योंकि उस कंजूस सेठ ने अपनी पत्नी को कह रखा था कि "तुम कभी चौका मत लगाना, गाँव के सारे लोग तो उन्हें आहार दे ही रहे हैं, एक हम नहीं देंगे तो कुछ फर्क नहीं पड़ेगा।" दान भी वही दे सकता है जिसका पुण्य उदय में हो, दान की प्रवृत्ति हो।

तभी पर्व के समय एक विद्वान् पंडित प्रवचन देने आए। रात्रि में उनके प्रवचन होते तो जनसमुदाय एकत्रित होता। सेठानी बोली अरे! अब इस समय तो दुकान भी बंद हो जाती है, देखो वहाँ कितना धर्मध्यान चल रहा है। चलो प्रवचन सुनने। सेठ जी

बोले "मैं नहीं जाता, तुमको जाना है तो जाओ।" यह सुन सेठानी बोली "यदि नहीं चलोगे तो रसोई नहीं बनाऊँगी।" अब क्या करता सेठ को जाना ही पड़ा। किन्तु सेठ जी सभा में ऐसे छिपकर बैठे कि कोई देख ना ले, कि आज कैसे आ गए। उधर पंडित जी प्रवचन कर रहे थे इधर सेठ जी को नींद आ गई। और नींद में स्वप्न देखने लगे कि उनके कपड़े की दुकान में लोग आ रहे हैं और कपड़ा माँग रहे हैं, नौकर कपड़ा नापकर दे रहा है। सेठ जी नींद में ही बड़बड़ाये कि "जल्दी-जल्दी नापकर कपड़ा दे दो।" यह कह अपना ही दुपट्टा फाड़कर देने लगे। आँख खुली तो सोचने लगे 'अरे! ये क्या कर दिया मैंने? और पछताते हुए चले आए। पत्नी से बोले एक दिन मंदिर गया तो इतना नुकसान हो गया, अब नहीं जाऊँगा।'

एक दिन वह कंजूस सेठ किसी काम से बाहर गए हुए थे पत्नी ने मौका पाते ही मुनिराज का चौका लगा लिया और आहार दिया। शाम को जब सेठ जी घर आए तो मालूम पड़ा कि मुनिराज का आहार उन्हीं के घर में हुआ है। पत्नी पर क्रोधित होते हुए बोले कि मेरे हजार बार मना करने पर भी तुमने मुनिराज को आहार दे दिया। चार महीने से बचत करता आ रहा था, आज मेरा इतना खर्चा कर दिया। संयोग से उसी दिन मुनिराज का विहार दूसरे गाँव की ओर हो चुका था। कंजूस सेठ मुनिराज को ढूँढता-ढूँढता उनके निकट पहुँच गया और बोला आज जिस घर में आपका आहार हुआ वह मेरा घर था। बहुत बार मना करने के बाद भी मेरी पत्नी ने आज आपको आहार दिया और मेरा बहुत खर्चा कर दिया। अब आप उसकी पूर्ति करो। मुनिराज मुस्कुराये बोले मेरे पास तो मात्र यह पिच्छी और कमंडलु है।

सेठ बोला मैं जानता हूँ कई राजा महाराजा आपके शिष्य हैं, आप कोई चिट्ठी लिखकर दे दो। महाराज मौन बैठे रहे। कंजूस सेठ पुनः बोला ऐसे चुप बैठने से काम नहीं चलेगा मैं जानता हूँ मथुरा की रानी आपकी बहुत भक्त है। आप कागज पर लिखकर कुछ दो अन्यथा मैं कहीं जाने वाला नहीं हूँ। जब तक आप लिखकर नहीं दोगे तब तक मेरा अन्न-जल त्याग। मुनिराज भी क्या करते, उन्होंने एक कागज पर णमोकार मंत्र लिखकर दे दिया। सेठ भी चिठ्ठी लेकर घर की ओर चल दिया।

मुनिराज ने भी विहार किया। रास्ते में एक भयानक जंगल पड़ा। शाम का समय था, वहाँ एक भील-भीलनी रहते थे, मुनिराज को आता देख सोचने लगे अरे इतने भयानक जंगल में ये अकेले क्या कर रहे हैं यह जंगल हिंसक जानवरों से भरा हुआ है। उनकी रक्षार्थ भील-भीलनी ने मुनिराज के लिए मचान तैयार कर दिया और बोले मुनिवर! आप बहुत बड़े तपस्वी हैं। आज पुण्य से आपकी सेवा का अवसर हमें प्राप्त हुआ है। आप यहाँ निश्चिन्त होकर विश्राम कीजिए, हम आपकी सुरक्षा में रातभर रहेंगे।

वे भील-भीलनी उनके पास रखवाली करते डंडा पकड़कर बैठे रहे। रात में भील को नींद आ गई, इतने में शेर आया और जोर से दहाड़ मारी तो उस भील के हाथ से डंडा छूट गया और नीचे गिर गया, नीचे गिरते ही शेर उसे खा गया। प्रातःकाल मुनिराज को ज्ञात हुआ तो वे दुखी हुए और आत्मशांति का आशीर्वाद दे आगे बढ़ गए। इधर वह कंजूस सेठ आज मथुरा जाऊँ-कल जाऊँ ऐसा करते-करते कुछ महिनों बाद चिट्ठी लेकर मथुरा की ओर चल दिया।

संयोग की बात जब कंजूस सेठ महलों में पहुँचा तब महारानी प्रसव वेदना से तड़प रही थी। समाचार राजा तक पहुँचा कि एक सेठ चिट्ठी लेकर आया है जो कहता है महारानी को ही दूँगा। ज्ञात हुआ कि यह पत्र मुनिराज के पास से आया है तो राजा भी मुनिराज का भक्त था, वह पत्र सीधा रानी तक पहुँचा दिया। णमोकार मंत्र पढ़ने से रानी की प्रसूति भी आराम से हो गयी। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला चिट्ठी लाने वाले को लाओ, उनका स्वागत-सत्कार करो। राजा कई कीमती वस्त्र, आभूषण व सोने के सिक्के सेठ को देने लगे। नवजात शिशु भी वहीं सामने था। सेठ को एक आवाज सुनायी दी मानो जैसे बालक ही कह रहा था कि 'अरे सेठजी! क्या कर रहे हो? मैंने एक रात मुनिराज को वसतिका दान दिया तो मेरा जन्म यहाँ राजकुमार रूप में हुआ। आपने तो आहारदान दिया है इसकी महिमा अचिन्त्य है। तब सेठ को अपनी गलती का अहसास हुआ और स्वीकार किया कि दान का बहुत बड़ा फल होता है।

महानुभाव! जो दूसरों को भोजन कराकर के फिर स्वयं भोजन करता है वह भोजन उसके लिये अमृतोपमा बन जाता है, वह भोजन उसके लिये औषधि कारक, सुखस्वरूप बन जाता है इसलिए धर्मात्मा व सज्जन व्यक्ति बिना भोजन कराये भोजन नहीं करता, वह समझता है यदि मैं बिना खिलाये खाता हूँ तो भोजन नहीं कर रहा अपितु पाप का भक्षण कर रहा हूँ। आचार्य सोमदेव सूरि ने तो लिखा है "जो बिना साधु को दिये भोजन करता है वह सप्तम नरक के अंधकार का भक्षण करता है।" इसलिये दान देकर के या दिलाकर के या उस समय हाथ जोड़कर के अनुमोदना करके कि जहाँ कहीं भी साधर्मी जन हों, उन सभी

का आहार निराकुलता से हो। सभी की साधना, तपस्या, धर्म की चर्या, शरीर की स्थिति के लिये अनुकूलता से आहार चर्या का पालन हो, उनके आहार में कोई व्यवधान अन्तराय नहीं आये। इस प्रकार की भावना भाकर ही स्वयं भोजन करना चाहिए।

गृहस्थ शक्ति के अनुसार दान दे, शक्ति के अनुसार पूजा करें ऐसा नहीं कि प्रतिदिन महापूजा करे, भले ही अल्पपूजा करे पर करे जरूर। भगवान् के सामने बहुत सारी द्रव्य चढ़ायें तब ही पूजा मानी जायेगी, ऐसा नहीं है, यदि आपने अपनी श्रद्धा भक्ति से मुट्ठीभर चावल भी चढ़ा दिये तब भी पूजा हो जायेगी। शक्ति अनुसार आपने कुछ भी अर्पण कर दिया, उस वस्तु के प्रति मोह का त्याग कर दिया शुद्ध प्रासुक वस्तु का समर्पण किया है उससे आपकी पूजा हो जायेगी। पूजा तो अन्तरात्मा से होती है। अपने इष्ट आराध्य के प्रति पूज्यता का भाव आ जाये उस भाव के साथ जो कुछ भी अर्पण करोगे, वह पूजा बन जायेगी।

दान भी शक्ति के अनुसार करें, साधु को जिस वस्तु की आवश्यकता है, संयम के लिये आवश्यक पिच्छी-कमण्डलु, शास्त्रादि की या अन्य ज्ञानोपकरण की आवश्यकता है उनका दान करना चाहिये, अनावश्यक दान नहीं देना चाहिये। आवश्यक उपकरणों का दान साधु संत के लिये मोक्षमार्ग में कारण बन जायेगा, उसके माध्यम से वह धर्म-ध्यान कर सकेगा, वह आत्मकल्याण कर सकेगा और जो आत्म कल्याण करने में समर्थ है उसके माध्यम से नियम से परकल्याण भी होता है। साधु श्वाँस ले रहा है अर्थात् आत्म कल्याण करता है, और श्वाँस छोड़ रहा है तो परकल्याण कर रहा है। कोई व्यक्ति श्वाँस मात्र लेता ही जाये तो वह जीवित नहीं रह सकता, छोड़ता ही

जाये तब भी जीवित नहीं रह सकता। कोई व्यक्ति संसार में ऐसा नहीं जो सदा दूसरों का कल्याण ही करता रहे, ऐसा भी नहीं सिर्फ अपना करे, दूसरों का नहीं यह भी असंभव है। जब भी हित होता है तो दोनों का एक साथ होता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय कहते हैं कि जिनेन्द्र भगवान् की पूजा और मुनिमहाराज को दान देना, दोनों कार्य अपनी शक्ति के अनुसार करना यही श्रावक का धर्म है। 'सम्माइट्ठीसावय' वह श्रावक सम्यग्दृष्टि है, वह धर्मी है और मोक्षमार्ग में रत है अर्थात् क्रम से मुक्तिमार्ग की ओर रत है, कल्याणमार्ग में लीन है, वह भी आज नहीं तो कल समस्त कर्मों के बंधन को नष्ट करके अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकेगा। आप सभी सुधी श्रावक जन भी अपनी शक्ति अनुसार जिनपूजन व दान करें। यही श्रावक के लिये कल्याण का मार्ग था, मार्ग है और आगे भी रहेगा। इन दो कर्त्तव्यों का पालन यदि वह नहीं करता तो वह कल्याण मार्ग का पथिक नहीं बन सकता। आप सभी कल्याण मार्ग के पथिक बनें, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ....!!

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आत्मा कहाँ है?

महानुभाव! व्यक्ति अपने जीवन में कुछ विशेष वस्तु की खोज करना चाहता है। जो पदार्थ सबके लिये सहज व सुलभ है उन पदार्थों को प्राप्त करके उसे तृप्ति सी नहीं मिलती। कोई विशेष चीज जो जन-सामान्य की दृष्टि से अगोचर है, कोई विशेष चीज जो छिपी पड़ी है उसका किसी विशेष अवसर पर आविर्भाव होता है तो वह व्यक्ति अपने आप को धन्यभागी व पुण्यशाली समझता है। जो आविष्कार होते हैं, जिन्होंने अमुक-अमुक वस्तुओं की खोज की, उन्हें उनकी इस विशेषता के कारण सम्मान भी प्राप्त होता है। यद्यपि जैन दर्शन की अपेक्षा से संसार में कुछ भी नया नहीं है जो कुछ है सब अनादिकाल से है। और कुछ भी ऐसा नहीं है जो नष्ट हो जाये, कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे उत्पन्न किया जा सके। बस कभी कोई पर्याय आती है, कभी कोई।

मिट्टी अनादिकाल से है, कभी मिट्टी की पर्याय शुष्क होती है तो डेले रूप होती है, कभी मिट्टी गीली हो जाती है तो लोंदे रूप हो जाती है, कभी मिट्टी का कोई आकार कलश आदि बन जाता है किन्तु वह मिट्टी अनादिकाल से है, मिट्टी का एक कण भी न कोई नष्ट कर सकता है, न कोई एक नया कण उत्पन्न कर सकता है। पुद्गल में कण उत्पन्न-नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं, कोई नयी पर्याय खोजने की सामर्थ्य नहीं, जो है सब अनादिकाल से है, आज इस द्रव्य के पास है कल उस द्रव्य के पास। पुद्गल की एक पर्याय किसी अन्य पुद्गल के साथ है, दूसरी पर्याय अन्य-अन्य पुद्गल के साथ। सभी पर्याय एक पुद्गल में एक साथ नहीं होती, किसी में कोई पर्याय किसी

में कोई। इसी प्रकार जीव में भी सभी पर्यायें एक साथ नहीं होतीं। किसी जीव में कोई पर्याय होती है किसी जीव में कोई।

महानुभाव! ये सभी पर्याय किसी विशेष स्थान पर, किसी विशेष काल में, किन्हीं विशेष व्यक्तियों के द्वारा जब प्रकट की जाती हैं तो लोग उन्हें आविष्कारक कहते हैं, वैज्ञानिक कहते हैं, अनुसंधान कर्त्ता कहते हैं और कहकर के आपस में संतुष्ट हो जाते हैं। खोजने लायक चीज क्या है? व्यक्ति खोज करता है, किन्तु जिसे खोज लेता है उसे प्राप्त करके संतुष्ट नहीं होता। खोज उसकी करो जिसको खोजने के उपरांत अन्य खोजें न करनी पड़ें। प्राप्त उसे कर लो जिसे प्राप्त करने के उपरांत कुछ और प्राप्त न करना पड़े। आज जिसे प्राप्त करने के लिये हम पुरुषार्थरत् हैं, हो सकता है कल उसके फल को प्राप्त करके हमें दु:ख हो, डर लगे, पश्चाताप करना पड़े। इसलिये खोज करो, किन्तु सम्यक् की खोज करो, सत्य की खोज करो, शाश्वत की खोज करो। खोज अनंत की करो, सीमित की खोज करते-करते अनंत भव निकल गये, किन्तु हम अनंत की खोज के लिये, अपना सीमित समय लगाना नहीं चाहते।

महानुभाव! बुद्धिमान् पुरुष वह कहलाता है, जो किसी वस्तु की खोज वहीं करता है जहाँ वह वस्तु है और वह उसे प्राप्त कर लेता है। मूर्ख व्यक्ति वे कहलाते हैं जो चीज जहाँ नहीं है उसे वहाँ खोजने का निष्फल पुरुषार्थ करते हैं। और महाप्रज्ञ वे कहलाते हैं जो कहते हैं खोजना क्या है, जो जहाँ है, वह वहाँ है, वह वहाँ से अन्यत्र जा नहीं सकता, और जो जहाँ नहीं है, वहाँ नहीं है, वहाँ वह मिल नहीं सकता। जिस प्रकार अग्नि में

उष्णता है, वह अग्नि को छोड़कर कहीं जा नहीं सकती और जल की शीतलता जल में ही मिलेगी। जल से संबंधित पदार्थों के संसर्ग से शीतांश का असर हो सकता है वहाँ मिलती है। हवा का बहना या अन्य पदार्थों के गुण वे वहीं मिलेंगे जहाँ वे हैं।

आचार्यों ने कहा हमें उस परमात्मा की खोज करना है, जिस परमात्म पद को प्राप्त करके संसार में जन्म-मरण नहीं करना पड़ता। जन्म-मृत्यु का ये चक्र अनादिकालीन है यह आज तक संचालित है, परमात्मा की खोज करके वह नष्ट हो जाता है। कनक पाषाण में सोना खोजा जा सकता है किन्तु सामान्य बालू में सोना नहीं मिलता, पुष्पों में गंध खोजी जा सकती है किन्तु निर्गंध पदार्थों में सुगंध नहीं मिल सकती। ऐसे ही हमारी आत्मा जो शक्ति रूपेण परमात्मा है यदि हम अपने परमात्मा को अपनी आत्मा में ही खोजने की कोशिश करेंगे तब नि:संदेह अपने परमात्मा को प्राप्त कर लेंगे। किन्तु उस परमात्मा को हम किसी दूसरे की आत्मा में या पुद्गल में खोजने की चेष्टा करेंगे तब अपने परमात्मा को अनंतकाल में भी प्राप्त न कर सकेंगे। आचार्यों ने लिखा है कि आत्मा क्या है, कैसा है, कहाँ है। उदाहरण के साथ लिखा है- आत्मा, परमात्मा के संबंध में कि-

पुष्पे गंधं, तिले तैलं, काष्ठाग्निं पयसी घृतं।
इक्षौ गुडे तथा देहे, पश्यात्मानं विवेकत:॥

पुष्प में गंध होती है किंतु पकड़ में पुष्प आता है, गंध उसके साथ अविनाभावी रूप से चलती है, आँखों से वह देखने में नहीं आती, आँखों से तो देखने में पुष्प का सौन्दर्य आता है, गंध नासिका द्वारा ग्रहण की जाती है। भोजन में स्वाद है, किन्तु वह

स्वाद देखने में नहीं वरन् रसना इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में आता है। इसी प्रकार किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने पर ध्वनि निःसृत होती है, वह ध्वनि देखने में नहीं आती कर्ण द्वारा ग्राह्य है। किसी भी वस्तु में स्पर्श होता है, उसके आठ गुण उसमें पाये जाते हैं हल्का-भारी, कड़ा-नरम, रूखा-चिकना, ठंडा-गरम इन आठ में से एक वस्तु में कोई चार पाये जाते हैं किन्तु वे आँखों से देखने में नहीं आते। ऐसे ही **'पुष्पेगंधं'** पुष्प में गंध है वह देखने में नहीं आती। पुष्प अखंड है तब भी और उसकी एक-एक पाँखुड़ी अलग-अलग करो तब भी गंध वहाँ रखी नहीं मिलेगी गंध तो उसके सर्वांश में है जब भी ग्रहण करेंगे नासिका के छिद्रों द्वारा ही ग्रहण करेंगे। नाशापुट के अतिरिक्त शरीर के किसी भी अंग से स्पर्शित करने पर पुष्प का ज्ञान नहीं होगा। जिसकी घ्राण इन्द्रिय गंध लेने में अक्षम है उस व्यक्ति को गंध का ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

तिले तैलं- जो तिलहन पदार्थ हैं चाहे वह तिल है, मूँगफली, बादाम, सरसों या अन्य तिलहन पदार्थों को पेलने पर तेल निकलता है, जबकि जब वे साबुत सामने रखे होते हैं तब उनमें तेल दिखायी नहीं देता। कोई सोचे तिल को हाथ में रगड़कर चिकना हाथ कर लें और शरीर पर तेल लगाना चाहें तो नहीं हो सकता। उसमें तेल है, पर दिख नहीं रहा। दिखता उसे है जो तिल में से तेल निकालने की कला-विधि सब जानता है, जिसे अनुभव है, नहीं तो उसके लिये वह तिल है तेल नहीं। **'काष्ठाग्निं'**- लकड़ी में अग्नि है, कोई कहेगा कहाँ है, वह जलाती तो है नहीं। लकड़ी में अग्नि बनने की क्षमता है, जिसमें अग्नि बनने की क्षमता है योग्यता है, भवितव्यता है वह शक्तिरूपेण

अग्नि ही है। जैसे किसी मिट्टी में कलश बनने की क्षमता है तो वह मिट्टी भी कुंभकार को कलश रूप दिखायी देगी। किसी पाषाण में परमात्मा बनने की योग्यता है तो वह पाषाण भी शिल्पकार को मूर्तिरूप दिखायी दे रहा है।

महानुभाव! जिस तरह लकड़ी में अग्नि है अर्थात् अग्नि का संसर्ग पाकर वह लकड़ी अग्नि बन जाती है, ऐसे ही दूध में घी होता है। देखने में दूध ही दिखेगा घी नहीं किन्तु जो ग्वालिन दूध में से घी निकालना जानती है वह समझ जाती है इस दूध में इतना घी होगा। कोई कहे यदि घी है तो इसमें मुझे पूड़ी तलकर दिखाओ? तो जिसकी दृष्टि में जो होता है वही उसे दिखाई देता है। सुनार की दृष्टि सोने पर होती है। दर्जी को कपड़े में मनचाहा वस्त्र दिखायी देता है। तो जिसके पास जो हुनर, कला, विद्या होती है, उसमें उस वस्तु के गुण देखने की क्षमता पायी जाती है। किसान खेत को देखकर बता देता है कि इसमें कितना अनाज हो जायेगा।

'इक्षौ गुड़े'- गन्ने में से गुड़ निकलता है, पर कोई गन्ने को देखकर कहे, लाओ गुड़ दो, तो ऐसे नहीं, गन्ने को पेलकर उसके रस को गरम करके शक्कर, खांड, गुड़ सब बन सकता है। उस गन्ने से गुड़ बनने की एक प्रक्रिया है, गन्ने में गुड़ शक्ति रूपेण है **'तथा देहे'** जिस प्रकार पुष्प में गंध, तिलहन में तेल, काष्ठ में अग्नि, दूध में घृत और इक्षुदण्ड में गुड़ है उसी प्रकार इस देह में आत्मा है **'पश्यात्मानं विवेकतः'** विवेक द्वारा उस आत्मा को देखो। बिना ज्ञानचक्षु के आत्मा देखने में नहीं आती। जैसे बिना नासिका के गंध सूँघने में नहीं आती, बिना कर्ण के ध्वनि/शब्द

सुनने में नहीं आता, बिना नेत्र इन्द्रिय के कोई वर्ण देखने में नहीं आता, बिना जिह्वा के स्वाद नहीं आता, ऐसे ही बिना विवेक के, बिना ज्ञानचक्षु के आत्मा देखने में नहीं आती।

आत्मा बहुत सूक्ष्म है उसका ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से तब होता है जब इन्द्रियाँ संचालित होती हैं, तब लगता है जब इन्द्रियों का शासक आत्मा अंदर बैठा है। यदि वह नहीं होता तो इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकती। जैसे किसी जनरेटर के माध्यम से सभी विद्युत उपकरण चलने लगते हैं तो ऐसा नहीं वे मात्र स्विच से चल रहे हैं बल्कि उनका तार जनरेटर से लगा हुआ है, जनरेटर बंद हो जायेगा तो उन सभी विद्युत उपकरणों का कार्य करना बंद हो जायेगा। ऐसे ही हमारी इन्द्रियों के बीच एक सम्राट 'आत्मा' बैठा है, उसके निकल जाने पर हमारी इन्द्रियाँ काम करना बंद कर देती हैं।

एक राजा ने अपने मंत्री से पूछा- मंत्रिवर! आप बहुत धर्म-ध्यान करते हो, आत्मा का ध्यान व चिंतन करते हो, मुझे बताओ आत्मा कहाँ है? वह कैसी है? क्या होता है ये आत्मा, परमात्मा? मंत्री ने कहा महाराज, उसे शब्दों में बताया नहीं जा सकता, चर्मचक्षुओं से दिखाया नहीं जा सकता और ना ही इन कर्णों से आत्मा की ध्वनि को सुनाया जा सकता है, न सुँघाया जा सकता है, न चखाया जा सकता है क्योंकि आत्मा इन्द्रियों के अगोचर है। जैसे एक्स-रे मशीन के माध्यम से किसी के वस्त्रों की फोटो नहीं ली जा सकती और कैमरे से किसी के अंदर की हड्डियों की फोटो नहीं ली जा सकती, सबके विषय अलग-अलग होते हैं ऐसे ही आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। आत्मा आत्मज्ञान

का विषय है। किंतु राजा की समझ में ये बातें नहीं आयीं। वह जिद्द कर गया मुझे आत्मा परमात्मा का स्वरूप समझाओ, तुम्हारे पास समझाने के लिये 7 दिन का समय है, आठवें दिन मैं तुम्हें फाँसी की सजा दे दूँगा। मंत्री ने क्षमा माँगी, कहा-महाराज कोशिश करूँगा। 7 दिन बीत गये, आठवाँ दिन आया। वह मंत्री बोला महाराज आज मैं आपको आत्मा दिखाने की चेष्टा करता हूँ, आप मेरे साथ चलो, कहाँ? महाराज यहाँ महलों में दर्शन नहीं होंगे जंगल में लेकर चलता हूँ। पुनः राजा-मंत्री अपने-अपने घोड़े पर सवार होकर जंगल की ओर चल दिये, मंत्री अपने साथ रस्सी व कोड़ा ले गया। जंगल में पहुँचकर मंत्री, राजा को एक वृक्ष के नीचे ले गया, बोला- महाराज! इस वृक्ष के नीचे मैं आपको आत्मा दिखाऊँगा। राजा को वृक्ष के समीप ले जाकर कहा- महाराज मैं पहले एक खेल खेलता हूँ फिर आपको बताऊँगा आत्मा कैसी है, कहाँ है। उसने रस्सी निकाली और पेड़ से राजा को कसकर बाँध दिया, और अपना कोड़ा लेकर राजा को मारने लगा। राजा बोले, अरे! क्या करते हो, मेरे प्राण लेकर ही रहोगे क्या? राजा चिल्लाता रहा, पर मंत्री मारता गया। राजा चिल्ला रहा था, हे भगवान्? मुझे बचाओ। पुनः मंत्री ने राजा को खोला, हाथ जोड़कर राजा से क्षमा माँगी, कहा शायद अब आत्मा-परमात्मा आपको दिख गयी होगी।

राजन्! मैंने आपकी आत्मा को नहीं, वरन् आपके शरीर में कोड़े मारे थे, वह शरीर तो पुद्गल है, जो अंदर से चिल्ला रही थी वो आत्मा है और जिसको पुकार रही थी वो परमात्मा है। ये आत्मा उस सर्व शक्तिमान् को बुला रही थी, आकर मेरी रक्षा करो। राजा समझ गया वास्तव में मेरे शरीर में जो आत्मा थी,

वही उस सर्वशक्तिमान् को बुला रही थी। वह आत्मा इन्द्रियों के अगोचर है, अनुभवगम्य है।

आत्मा प्रत्येक शरीर में है ऐसा कोई शरीर जीवंत नहीं जिसमें आत्मा न हो, उस आत्मा को तत्त्वज्ञान के बिना देखना असंभव है। आप सभी प्रभु भक्ति करते हुये, एकांत में तत्त्व का चिंतन करें, अपनी आत्मा से साक्षात्कार करने का प्रयास करें, आपका पुरुषार्थ सफल हो, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ...!!

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्म का पालन क्यों?

महानुभाव! जीवन में हमें कुछ ऐसा कर लेना चाहिये, जिससे जीवन के अंत में हमें उसे प्राप्त करके स्वयं भी तृप्ति हो और दूसरे भी उससे प्रेरणा प्राप्त कर सकें। यह जीवन ढोने के लिये नहीं, कुछ होने के लिये है। जीवन में कुछ अच्छा होने के लिये है बुरा खोने के लिये है। हमारा जीवन भारभूत नहीं, सारभूत और आधारभूत है। जीवन को रागमय नहीं त्यागमय बनाओ, जीवन को भोगमय नहीं योगमय बनाओ। जीवन में दूसरों की विराधना नहीं सम्यक् साधना करो। जीवन वासना से नहीं गुरु व प्रभु की उपासना से धन्य होता है। जीवन में कुछ लोगों का कहना है कि भौतिक समृद्धि से जीवन सफल हो जायेगा, इसीलिये वे भौतिक समृद्धि को ज्यादा महत्त्व देते हैं, उन्हें भौतिकता लुभाती है, तब कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिन्हें संसार की भौतिकता चमक-दमक बाँध नहीं पाती, रिझा नहीं पाती, लुभा नहीं पाती। वे उससे विरक्त हो जाते हैं, वे वहाँ से अपना मुख मोड़कर, पीठकरके खड़े हो जाते हैं और आध्यात्मिकता की गहराईयों को मापने लगते हैं, उसमें ही अवगाहन करते हैं।

कुछ मनचले युवा यौवन के मद में या अर्थ से अनर्थ की भूमिका तैयार करने वाले सत्ता-प्रभुता आदि को प्राप्त करके धर्म को रूढ़ि और अनावश्यक वस्तु मानने लगे हैं। उनके अनुसार धर्म की आवश्यकता नहीं, धर्म तो रिजेक्ट वस्तु है और किसी को करना हो तो जब रिजेक्ट हो जायें अर्थात् सरकार भी आपको जब सेवानिवृत्त कर दे तब आप धर्म कर लेना या जब आपके बच्चे आपको रिजेक्ट कर दें तब धर्म को आप सलेक्ट

कर लें। किन्तु ऐसा नहीं है। धर्म रिजेक्टेबल नहीं है और रिजेक्टेबल उम्र में करने का सौदा भी नहीं है और रिजेक्ट पुरुषों के द्वारा करने की चीज भी नहीं है। धर्म तो सलैक्टिड पीस है तीन लोक का सार निकालकर यदि कोई एक शब्द में कहे तो वह होगा 'धर्म'।

लोग वैदिक परम्परा में मानते हैं समुद्र मंथन का सार कहें तो वह होते हैं रत्न, सम्पूर्ण दूध का सार कहें तो घृत, स्वर्गों के सुखों का सार निकालकर कोई कहे तो होता है अमृत। पृथ्वी पर लकड़ी का सार माना जाता है चंदन, पार्थिव रत्नों का सार कहें तो कहते हैं पारसमणि रत्न/चिंतामणि रत्न। वृक्षों में कल्पवृक्ष मानते हैं ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मात्र का, जितने भी चराचर जीव हैं, उन सभी का कोई सार है तो वह है धर्म। इसलिये आचार्यों ने कहा है-

धर्मामृतं सदा पेयं, दुःखातंक विनाशनं।
यस्मिन् पीते परम-सौख्यं, जीवानाम् जायते सदा॥

"धर्म का अमृत सदा ही पीना चाहिये, क्यों? भवाताप को नष्ट करने के लिये। तुम्हारी सुख की प्यास अनादिकाल से चली आ रही है, उस सुख की प्यास को बुझाने के लिये धर्मामृत का पान करना चाहिए। दुःख की तीव्रता जब होती है, तब सुख पाने की भावना जागती है। लोग प्यास में पानी पीते हैं जैसी प्यास, वैसा पानी। किसी को भोगों की प्यास होती है, किसी को वैभव की प्यास होती है, किसी को प्रतिष्ठा की प्यास होती है, किसी को यश और ख्याति की प्यास होती है, किसी को आत्म शांति की प्यास होती है जिसकी जो ख्वाइश होती है वह उसी को खोजने का प्रयास करता है।

महानुभाव! जब प्यास लगती है, कण्ठ शुष्क होता है उस समय व्यक्ति को जैसा भी पानी मिले उसे पीता है चाहे वह जमीन पर पड़ा गंदा पानी हो। यदि उसे और अच्छा पानी मिल जाये तो वह गंदा पानी न पीयेगा। वह पानी जो मिलावट, कीचड़ का तो नहीं पर उसमें खारापन है, यदि उसे खारापन रहित पानी मिल जाये तो वह पहले वाले को छोड़ देगा। अब पानी मिला जो खारेपन से रहित के साथ-साथ कुछ मिठास लिये भी है तो वह उसे स्वीकार कर लेगा और किसी व्यक्ति को मिठास के साथ-साथ जल में थोड़ी शीतलता भी मिल जाये तो वह उसको छोड़कर इसे प्राप्त कर लेगा। ज्यों-ज्यों गुणवत्ता बढ़ती चली जायेगी त्यों-त्यों वह पानी बदलता जायेगा। यदि किसी व्यक्ति को क्षुधा व तृषा दोनों ही बाधा सता रही हों तो वह दुग्धपान करे या क्षीरोदधि का पानी ग्रहण करे तो उसे और अधिक तृप्ति व आनंद मिलेगा। नारियल का पानी या अमृतोपमा फल अथवा द्राक्षा आम आदि मिले तो और अधिक तृप्ति मिल जाती है, फिर किसी को अमृत ही मिल जाये तो कहना ही क्या है। वह कहेगा अब इसके आगे कुछ भी नहीं चाहिये। ये मिल गया तो सब कुछ मिल गया।

औषधि की आवश्यकता रोगी को होती है निरोगी को नहीं। यदि रोग शरीर में है तो औषधि परमावश्यक है ऐसे ही हमारी आत्मा में यदि रोग लगा हुआ है, जिस रोग से हम दुःखी हैं जन्म, जरा, मृत्यु का रोग, कषायों की उत्तेजना का रोग, विषयवासना का रोग या नाना प्रकार के कायिक, वाचनिक या मानसिक रोग आदि जितने भी रोग हैं, उन सभी रोगों को दूर करने की बस एक ही दवा है। व्यवहार जगत में तो आयुर्वेदाचार्य या प्राकृतिक

उपचार करने वाले कहते हैं- **"पानी मिट्टी और हवा, सौ रोगों की एक दवा"** किन्तु यहाँ पर कह रहे हैं 'धर्मामृतं सदा पेयं' धर्म का अमृत ही सदा पीओ। वह धर्म भी तीन रूप में है सम्यक्श्रद्धा, सम्यक्ज्ञान और तीसरा है सम्यक्चारित्र। सम्यक्श्रद्धा जिसे निष्ठा कहो, विश्वास कहो, रुचि कहो या प्रतीती कहो। सम्यक्ज्ञान जिसे बोध कहो, विवेक कहो, चतुराई कहो, निपुणता कहो या होशियारी कहो। सम्यक् चारित्र जिसे आचरण कहो, सदाचार कहो, संयम कहो। यह धर्म इन तीन रूप होता है।

"सद्दृष्टिज्ञानव्रत्तानि, धर्मं धर्मेश्वराविदुः"

तीर्थंकरों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही धर्म कहा। अंतिम धर्म है सम्यक्चारित्र व प्रारंभिक धर्म है सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान। इन्हें प्रथम सोपान कहें या प्रमुख पृष्ठ कहें, किन्तु धर्म की पूरी पुस्तक है तो संयम और चारित्र है। अकेला कवर लेकर के पूरी पुस्तक का अध्ययन नहीं किया जा सकता, उससे दूसरों को धोका तो दिया जा सकता है। अकेला सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके कोई व्यक्ति कहे मैं मोक्षमार्गी बन गया मुझे संयम की या चरित्र की आवश्यकता नहीं है, मैं ऐसे ही अपना कल्याण कर लूँगा, तो ऐसा करके वह अपने आप को धोका दे सकता है किन्तु अपना कल्याण नहीं कर सकता। जैसे कोई व्यक्ति अच्छे वाहन को प्राप्त करके कहे, मुझे मंजिल मिल गयी, मैं वाहन को नहीं चलाऊँगा, मुझे न ड्राइवर की, न डीजल-पेट्रोल की, किसी की आवश्यकता नहीं है यह वाहन खड़ा है, चलने की मुझे क्या आवश्यकता, मुझे मंजिल मिल गयी, ऐसे ही जो व्यक्ति बिना चारित्र के अपना कल्याण चाहता है वह अपने आप को ठगता है। वह उसी व्यक्ति की तरह से है जो बहुत सारी औषधियाँ जानता

है, अपने पास रखता है किन्तु विकट रोग होने पर भी उस औषधि का सेवन नहीं करता, बस इतना कहता है, मुझे विश्वास है, यह औषधि मुझे ठीक कर देगी, मुझे जानकारी है इस रोग की औषधि क्या है, विधि क्या है, इतने जानने मात्र से मैं ठीक हो जाऊँगा, किन्तु वह सेवन नहीं करता इसलिये आचार्यों ने संयम को, सदाचरण को धर्म कहा।

'चारित्तं खलु धम्मो' आध्यात्मिक रसिक, परम महर्षि आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी, जिन्होंने बाल्यावस्था में ही यथाजात् दिगम्बर दीक्षा लेकर साधना की, वे क्षत्रिय थे, राज वैभव को ठुकराया और साधना करके जो अन्तरात्मा में पाया, उसे शब्दों की पोशाक पहनाकर शास्त्रों पर लिपिबद्ध किया। वर्णवर्तिका से लिप्यासन पर जो शब्द उकेरे वे यही थे 'चारित्तं खलु धम्मो'। भगवान् महावीर स्वामी आदि तीर्थंकरों ने भी कहा- "पहला आचारांग बखानो" आचरण से ही धर्म का प्रारंभ करा। इसलिये 'धर्मामृतं सदा पेयं' वह धर्म का अमृत सदा ही पीना चाहिये। रोग दूर होने पर औषधि सेवन करने की आवश्यकता नहीं किन्तु धर्म का अमृत कोई रोगी हो या निरोगी सभी को हमेशा पीते रहना चाहिये।

ये धर्म स्वभाव रूप है, इसलिये जब विभाव अवस्था में हैं तब पीओगे तो विभाव दूर हो जायेगा और स्वभाव में जब लीन हो गये तो धर्म के बिना कुछ और न कर सकोगे, अपने स्वभाव का ही भोग करना पड़ेगा। जैसे किसी जल में जब तक कीचड़ मिली है तब तक उस जल को शुद्ध करना जरूरी है, जब मल अलग हो गया, किसी कपड़े से छानकर अलग कर दिया, फिटकरी डालकर जल को और स्वच्छ कर दिया, तो स्वच्छ

जल है तब भी जल है, कीचड़ थी तब उसमें भी जल था। विभाव अवस्था से युक्त व्यक्ति को भी स्वभाव की आवश्यकता है। स्वभाव में तो जल ही जल है और कुछ है ही नहीं, वह स्वभाव है आत्मा में लीनता, आत्मा में श्रद्धा, आत्मा में ज्ञान और पुनः आत्मा में आत्मा का लीन हो जाना। उस धर्मामृत का पालन सदा करो। उस धर्मामृत के लिये कोई स्थान नियत नहीं है कि मंदिर में जाकर ही धर्म करेंगे, धर्म तीन लोक में कहीं भी बैठकर किया जा सकता है। धर्म के लिये कोई समय निश्चित नहीं है चाहे वह समय भक्ति के रूप में हो, श्रद्धा के रूप में हो, ज्ञान के रूप में हो या संयम का पालन करने के रूप में हो।

महानुभाव! अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह महाव्रतों का पालन करके भी धर्म किया जा सकता है। पर वस्तुओं का त्याग कभी भी किया जा सकता है, दया-करुणा का भाव चौबीसों घंटे कभी भी रखा जा सकता है। जैसे आकाश सर्वदा है, सर्वत्र है वैसे ही धर्म भी हमारे लिये सर्वत्र, सर्वदा है। यह स्वतंत्रता देता है। यह धर्मामृत क्यों पीना चाहिये? 'दुःखातंकविनाशकं' क्योंकि यह दुःख व आतंक का विनाश करने वाला है। दुःख जो मोहनीय कर्म के उदय से आता है, आतंक छोटे-छोटे कष्ट, इन दोनों का निवारण करने वाला है। जैसे धूप का निवारण छाया या हाथ का छाता करता है, जैसे क्षुधा का निवारण भोजन करता है ऐसे ही दुःख और आतंकों का विनाश धर्म करता है। धर्म की शरण लें आप सदा सुरक्षित रहेंगे अन्यथा दुःखों को प्राप्त करते रहोगे।

'यस्मिन् पीते परम सौख्यं' इस धर्म के अमृत को पीते हुये परम सौख्य की प्राप्ति होती है, परम आनंद की अनुभूति होती है। महानुभाव! वह धर्म का अमृत हर व्यक्ति को सुलभ नहीं।

जिसकी भवितव्यता अच्छी होती है, जो परम पुरुषार्थी होता है, जिसे स्व-पर का हित करना है, वही धर्म का अमृत पी सकता है। अन्य व्यक्ति धर्म के अमृत को पीने के बारे में सोच तो सकते हैं किन्तु धर्म का अमृत पी नहीं सकते।

जिंदगी में व्यक्ति बहुत कुछ छोड़ता है, बहुत कुछ जोड़ता है। जो व्यक्ति प्रज्ञ हैं वे अधर्म और अधर्म से संबंधित सभी फलों को छोड़ देते हैं, धर्म और धर्म के फल को स्वीकार करते हैं, धर्मात्माओं की संगति चाहते हैं किन्तु जो व्यक्ति अप्रज्ञ हैं वे जीवन में सुख के नाम पर दुःख को बटोर लेते हैं और सही बात तो ये है कि दुःख जब भी आता है, सुख की पोशाक पहनकर आता है और सुख जब भी आता है दुःख की पोशाक पहनकर आता है। जो व्यक्ति इस रहस्य को नहीं जानता वह सुख को पकड़ने के चक्कर में दुःख को पकड़ लेता है। वह केवल बाहरी पोशाक देखता है, अंदर से नहीं। जैसे असली वस्तु पर नकली लेबल लगा हो, नकली पर असली का लेबल लगा हो तो अंदर की वस्तु को वह नहीं देख रहा है केवल ऊपर का लेबल देखकर विश्वास करता है, वह सत्य तक, धर्म तक नहीं पहुँच पाता है केवल आवरणों में जकड़कर रह जाता है। धर्म आवरणों का नाम नहीं है धर्म तो जीवन के जागरण का नाम है। ऐसे सच्चे धर्म को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो, वह सत्य धर्म, यथार्थ धर्म ही हमारी और आपकी आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ है।

आप सभी परमात्म पद को प्राप्त करें, हम आप सभी के प्रति ऐसी भावना रखते हैं, इन्हीं भावनाओं के साथ...!!

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धर्मयोग्या हि मानवाः

महानुभाव! जीवन में हमें जो कुछ भी इन चर्म चक्षुओं के माध्यम से दिखायी दे रहा है, कभी-कभी वह पूर्ण सत्य प्रतीत होता है, तो कभी-कभी वह असत्य सा प्रतिभासित होता है। ये जीवन ऐसा लगता है, जल के बुदबुदे की तरह से है या किसी वृक्ष पर लगे मकड़ी के जाले का तंतु जो हवा के झोंके से हिल रहा है, वह कब टूट जाये पता नहीं। अथवा सातवीं मंजिल से गिरता हुआ कोई काँच का बर्तन, कब नीचे आते ही टूट जाये भरोसा नहीं है। जब तक ऊपर से नीचे आ रही है तब तक जिंदगी है। जो सुख निद्रा में लीन है, उस समय उसे जो स्वप्न आ रहा है, उस स्वप्न का भी कोई भरोसा नहीं है, कब टूट जाये, ऐसे ही यह जिंदगी है इस जिंदगी में कई बार तो ऐसा लगता है, जो कुछ भी सामने दिखाई दे रहा है वह सब असत्य है, मिथ्या है, मायाजाल है।

किन्तु ये जिंदगी भी बड़ी अजीबोगरीब होती है इसमें कभी हार या कभी जीत होती है। चाहे वह जिंदगी किसी की भी हो, क्योंकि समय सबका एक सा नहीं चलता। कभी ऐसा लगता है हार ही हार होती चली जा रही है तो कभी ऐसा समय आता है कि जीत होती चली जाती है। लोग कहते हैं क्या करें- हम जानते हैं **"जिंदगी में जितने भी ख्वाब हैं सब झूठे हैं, ख्वाइशें अधूरी हैं, जीवित रहने के लिये कुछ गलत फहमियाँ भी जरूरी हैं।"**

किन्तु ये गलतफहमियाँ जन्म से मृत्यु तक की यात्रा करा सकती हैं, कभी सही मुकाम तक पहुँचा नहीं सकती। यदि कोई

व्यक्ति कल्पना कर ले कि मेरा लक्ष्य सामने ही खड़ा है यह मन में मान ले, तो मानने से कुछ होने वाला नहीं है, वह तो गलतफहमी पाल कर बैठा है, मृगमरीचिका को कोई जल मान ले तो क्या उससे प्यास बुझ जायेगी, मानचित्र में बनी नदियों से अंजुली भर कर क्या कोई अपनी तृषा को शांत कर सकता है, प्लास्टिक के फलों से सजी टोकरी से क्या कोई अपनी क्षुधा तृप्त कर सकता है, नहीं। लोग गलतफहमी पालते हैं, वे सत्य से साक्षात्कार नहीं करना चाहते। कभी-कभी तो ऐसा लगता है सत्य उन्हें बहुत कड़वा प्रतीत हो रहा है इसीलिये वे सत्य की औषधि को पीना नहीं चाहते। वे चाहते हैं इस मीठी वस्तु को खाकर हम और बीमार पड़ जायें। ज्वर के रोगी को मिठाई भी कड़वी लगती है, फिर भी वह कहता है मैं चिरायते का काढ़ा नहीं पी सकता। किन्तु जो जीर्ण ज्वर है, जो बुखार हड्डी में घुस गया है, उस मियादी बुखार को निकालने के लिये ये छोटी-मोटी गोलियाँ या चूर्ण आदि अब काम न करेंगे अब तो आपको बहुत मजबूत औषधि चाहिये जो अंतरंग में विद्यमान रोग के कारणों को दूर कर सके।

"जिंदगी में ख्वाब झूठे हैं किन्तु हौंसले जिंदा हैं। हम वो शख्स हैं जिन्हें देखकर के मुश्किल भी शर्मिंदा हैं।"

ऐसे व्यक्ति बनोगे तो जीवन में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकोगे। यदि ख्वाबों की जिंदगी जीते रहोगे तो कभी लक्ष्य को प्राप्त न कर सकोगे। शेखचिल्ली के सपने देखते-देखते अनंत जीवन व्यतीत कर दिये, वे सपने कहीं पहुँचाते नहीं हैं। बचपन में पहले कहानियाँ सुनते थे परियों की, पकड़ने जाओ तो पकड़

में नहीं आती। ऐसा लगता है कि संसार के जो ख्वाब हैं वे सब ख्वाब टूटे हैं, झूठे हैं, कोई भी ऐसा ख्वाब नहीं है जो टूटता नहीं है। आकाश में दिखने वाला तारा ऐसा लगता है कब टूट जाये, उसको टूटने में देर लगे किन्तु ख्वाब उससे जल्दी टूट जाता है। पानी में बहता हुआ बुदबुदा दिख रहा है कब टूट जाये कह नहीं सकते ऐसे ही ख्वाब टूटते हैं और आश्चर्य की व मजे की बात तो ये है कई बार तो ख्वाब, ख्वाब को तोड़ देते हैं। पानी में बहता एक बबूला टूटा उसके संयोग से स्पर्श करता दूसरा-तीसरा बबूला भी टूट जाता है ऐसे ही एक ख्वाब टूटता है तो अनेकों ख्वाब टूटते चले जाते हैं किंतु जिसके हौंसले बुलंद होते हैं वह कहता है एक सपना टूट जाने से सभी अरमान थोड़े ही मर गये, एक पूरा नहीं हुआ तो क्या दूसरा सपना पूरा होगा, तीसरा होगा, कोई बात नहीं मैं हिम्मत नहीं हारता।

जो अपने इरादे नेक रखता है, हौंसले बुलंद रखता है, जो नेक नीयत रखता है, जो अदम्य साहस रखता है उसके लिये मंजिल न दूर होती है, न दुर्लभ और न दु:साध्य। वह सहजता में मंजिल प्राप्त कर लेता है। वह कभी सीढ़ियाँ चढ़कर पर्वत पर नहीं पहुँचता, सीढ़ियों का आश्रय वे लें जिन्हें मात्र पर्वत की चोटी को छूना हो, अरे! मुझे तो आसमान को छूना है, अपना कद ऊँचा बढ़ाकर, और पैर भी जमीन पर टिके रहें। जिन व्यक्तियों का ऐसा अदम्य साहस होता है वे नि:संदेह जीवन में कुछ न कुछ प्राप्त करके अवश्य रहते हैं।

आप अपने आपको कमजोर क्यों मानते हो? कभी स्वयं को कमजोर मत मानो, अपनी शक्ति को जाग्रत करो। एक छोटा सा

अणु भी बहुत बड़ा विस्फोट कर सकता है, बड़ी सी चट्टान को भी तोड़ सकता है। छोटी सी शक्ति भी बहुत बड़ा काम कर सकती है। छोटा सा वट बीज बहुत बड़े वृक्ष के रूप में प्रकट हो सकता है। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में ये न सोचे, मैं क्या कर सकता हूँ, हिम्मत न हारे। हिम्मत के हारते ही व्यक्ति हार जाता है और हिम्मत न हारे तो संसार की कोई भी हार उसे हरा नहीं सकती, कोई भी शक्ति उसे पराजित नहीं कर सकती। व्यक्ति जब तक स्वयं पराजित नहीं होना चाहे तब तक वह हार नहीं सकता, और तो और ध्यान रखो, पराजय के मायने हार नहीं है परा+जय = उत्कृष्ट विजय को प्राप्त करने का साहस। प्रत्येक हार जीत के लिये प्रेरणा देने वाली हो सकती है। यदि हम उसे अपनी प्रेरणा बनाना चाहें तो।

महानुभाव! आचार्यों ने लिखा है कि मानव प्रत्येक कार्य करने में समर्थ है। यह मानव योनि एक ऐसा जंक्शन है जहाँ से हर जगह ट्रेन जाती है, जहाँ भी जाना चाहें स्वर्ग हो या मोक्ष, नरक हो या निगोद, तिर्यंच बने या भोगभूमिज सर्वत्र जा सकता है। मनुष्य में ही वह योग्यता है कि वह उत्तम से उत्तम फल को भी प्राप्त कर सकता है और निंद्य से निंद्य अवस्था को भी प्राप्त कर सकता है। मानव के अंदर जितना ऊँचा जाने की सामर्थ्य है उतना ही नीचे जाने की भी सामर्थ्य है। झूला जितना इधर तक जा सकता है, उतना दूसरी तरफ भी जा सकता है। ऐसे ही मानव में वह शक्ति है, वह संभावनायें हैं जो उच्चता व निम्नता दोनों स्तर तक को प्राप्त करा सकती हैं। आचार्य महोदय लिखते हैं-

"देवता: विषयासक्ता: नारका: दु:खविह्वला:।
ज्ञानहीना: च तिर्यंचा:, धर्मयोग्या: हि मानवा:॥"

जो देवगति के देव हैं वैमानिक, भवनवासी, ज्योतिष, व्यंतर देव। 16 स्वर्ग से ऊपर अनुत्तरादि में जहाँ विषय सुख न हो तो वहाँ सम्यग्दृष्टि देव उसमें आसक्त नहीं होते किन्तु सामान्य देव वाण-व्यंतर, ज्योतिषी व भवनवासी ये तीन तो मुख्यता से विषयों में आसक्त रहते हैं और जो वैमानिक देव हैं वे धर्म ध्यान भी करते हैं और विषयों में भी आसक्त होते हैं। देवगण अभी विषय सेवन से मुक्त नहीं, वे उन्हीं में रंजायमान हैं। जो पूर्व में तपस्या-साधना की उसके फल को प्राप्त कर रहे हैं, भोगों में संलग्न हैं पंचेन्द्रिय के विषयों में आकंठ डूबे हुये हैं।

अब बात यदि नारकियों की करें तो 'नारका दु:ख विह्वला' नारकी के भाग्य में तो दु:ख ही दु:ख लिखा है, सुख है ही नहीं। जैसे अग्नि कुण्ड में पड़े व्यक्ति के लिये ऊष्णता ही ऊष्णता है और कुछ है ही नहीं, ऐसे ही नरक में पड़े नारकी के लिये दु:ख ही दु:ख है और कुछ नहीं है। वहाँ निरन्तर मारकाट चलती रहती है। जहाँ की भूमि में इतनी ऊष्णता है कि यदि लोहे का गोला डाला जाये तो वह भी पिघल करके पानी हो जायेगा और नीचे वाले नरक में इतनी शीतलता है कि यदि कोई लोहे का गोला भी डाला जाये तो गल जाये। वहाँ की दुर्गंध युक्त मिट्टी का कण भर भी यहाँ मनुष्य लोक में आ जाये तो आचार्यों ने लिखा है शास्त्रों में कि चार कोस के जीव उसकी दुर्गंध से मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। तो उन नारकियों के दु:खों का कोई अंत नहीं, न ही कोई चारा। फिर आप कहेंगे कि वे नारकी क्यों नहीं मरते, क्योंकि नारकियों का कभी अकालमरण नहीं होता ऐसा नियम है, वे पूर्ण आयु भोगकर ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जितने

पाप किये हैं उन सभी का फल दु:ख जब तक भोग नहीं लेंगे तब तक मृत्यु नहीं हो सकती।

महानुभाव! देवता भी धर्म नहीं कर पाते, नारकी भी धर्म नहीं कर पाते। तिर्यंचों की बात करें तो तिर्यंच तो 'ज्ञानहीना' वे अज्ञानी हैं वे हित अहित के विचारने योग्य नहीं हैं। वे पराधीन हैं, मूक रहकर के गर्मी, सर्दी, वर्षा के दु:ख सहन करते हैं। वे बोझा ढोते हैं, भूख-प्यास सहन करते हैं। उनके पास इतनी बुद्धि भी नहीं कि वे धर्मध्यान करें, और आत्मा का कल्याण करें। वे करना चाहें तो उनमें सामर्थ्य नहीं और करने की बुद्धि भी नहीं इसलिये तिर्यंच भी अपना कल्याण करने में असमर्थ हैं। धर्म के क्षेत्र में उनका भी चुनाव नहीं हो सकता। न देवों का, न नारकियों का और न तिर्यंचों का। अब बचे मात्र मनुष्य।

मनुष्य जो भोगभूमि में हैं वे भोगों को भोग रहे हैं वे भी धर्म नहीं कर सकते। जो मनुष्य कुभोगभूमि में हैं वे भी कुभोगों में आसक्त हैं अपना कल्याण नहीं कर सकते और जो कर्मभूमि के मनुष्य हैं, जिन्हें अच्छी संगति मिली, जिनकी प्रभु परमात्मा के प्रति श्रद्धा है, जिन्हें धर्म शास्त्रों के दो शब्द सुनने को मिलते हैं, जिन्हें संत-महात्माओं की सेवा करने में रुचि है ऐसे कोई विरले मनुष्य होते हैं जो सत्संग प्रिय होते हैं, जिन्हें संसार के रस में कोई आनंद नहीं आता। इसीलिये कहा-'धर्मयोग्या हि मानवा:' मानव ही एक ऐसा व्यक्ति है जो अपना कल्याण कर सकता है, सदाचार-शिष्टाचार का पालन कर सकता है। जो परमात्मा के प्रति गाढ़ श्रद्धा करके अपनी आत्मा को परमात्मा रूप बना सकता है।

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य 70 लाख योनियों में कहीं भी ऐसी पात्रता, विशेषता नहीं पायी जाती। इसलिये यह जो धर्म है वह मनुष्य के हिस्से की चीज है। सबके लिये अलगे-अलग चीज हैं, वृक्ष एक स्थान पर खड़े रह सकते हैं, हवा, पानी, प्रकाश व खाद लेकर के वृद्धि करते हैं, नदी बह सकती है, समुद्र में जाकर मिल सकती हैं, पहाड़ खड़े रह सकते हैं। अग्नि जला सकती है, जल शीतलता दे सकता है, आकाश सभी को अवगाहना देता है, पृथ्वी सभी को स्थान देती है ये सभी चीजें अलग-अलग हैं, सबके अलग-अलग कार्य हैं, कौन क्या कर सकता है और मनुष्य के हिस्से में कार्य आया है धर्म। वह धर्म कर सकता है, अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है, दूसरे के कल्याण में निमित्त बन सकता है। करुणा-दया-अहिंसा का पालन कर सकता है, सत्य का प्रतिपादन कर सकता है, दूसरों का उपकार कर सकता है, प्रेम-वात्सल्य का भाव दूसरों के प्रति रख सकता है। वह चाहे तो शीलव्रत का पालन कर सकता है, अपनी मर्यादा में रह सकता है, वह अपने संस्कारों का संवर्धन कर सकता है, संस्कृति का वर्धन कर सकता है, अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है। यह सभी क्षमता सिर्फ मनुष्यों में है।

महानुभाव! सिर्फ आप ही हैं जो इस प्रकार के कार्य कर सकते हैं, यूँ तो इस संसार में अनंतानंत जीव हैं वे ऐसे कार्य नहीं कर सकते। आप ही धर्म योग्य हैं, उसमें समर्थ हैं हम अपेक्षा रखते हैं कि आप अपनी शक्ति अनुसार अच्छे कार्यों को अवश्य करेंगे।

आप इन धर्म की बातों पर अमल करें, इन्हें चुनें, तो आज नहीं तो कल सवेरा अवश्य होगा। बुरे कार्यों को आत्मा धिक्कारती है, वह भी उनसे घबराती है आप अपनी आत्मा की आवाज आज नहीं तो कल अवश्य सुनेंगे, बुराईयों को छोड़कर अच्छे कार्य अवश्य करेंगे। आप सभी अच्छे कार्य करें हम आपके प्रति ऐसी मंगल भावना भाते हैं। इन्हीं भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सज्जन-दुर्जन का स्वभाव

महानुभाव! संसार में जितने भी पदार्थ हैं, सबके अलग-अलग स्वभाव हैं, जिसका जैसा स्वभाव है, उस स्वभाव को अन्यथा कर पाना बड़ा मुश्किल और असंभव सा प्रतीत होता है। बुन्देलखण्ड में एक कहावत है-

"जी को जौन स्वभाव, जाय न जी से।
नीम न मीठी होय, खाय गुड़ घी से॥"

जिसका जैसा स्वभाव है वह जाता नहीं है। नीम का स्वभाव कड़वा होता है, यदि नीम के पत्तों को पीसकर के गुड़ और घी के साथ खायें तब भी कड़वाहट रहती है। मिर्च का स्वभाव चरपरा होता है, मिर्च हम खायें भी नहीं यदि कोई महिला मिर्च कूटती है या पीसती है तब भी उसके हाथ झनझना जाते हैं, उस मिर्ची का स्वभाव ऐसा ही है। फ्रिज से बर्फ निकाली तो हाथ ठंडा हो गया, और सिगड़ी में से कोयला चिमटे से भी निकाला तो भी हाथ मानो गर्म ही हो गया। तो जिसका जैसा स्वभाव है वह वैसा है, उसके स्वभाव को अन्यथा करना बड़ा मुश्किल होता है।

वैभाविक स्वभाव को तो परिवर्तित किया जा सकता है किन्तु स्वाभाविक स्वभाव को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी जी जिनशासन की निर्मल आचार्य परम्परा में एक बहुत महान् आचार्य हुये, वे राजकुमार थे, वे दो भाई थे भर्तृहरि व शुभचंद्र। भर्तृहरि ने वैदिक परम्परा के अनुसार प्रव्रज्या को स्वीकार किया, शुभचन्द्र ने जिनशासन के अनुसार यथाजात् दैगम्बरी दीक्षा अंगीकार की। भर्तृहरि ने अपनी साधना से, रसायन से स्वर्ण

बनाने की विधि सीखी तो शुभचन्द्र ने आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि सीखी। एक बार भर्तृहरि के शिष्य महाराज शुभचंद्र के पास पहुँचे, उनके शिष्य ने जब शुभचंद्र स्वामी को दिगम्बर अवस्था में देखा तो अपने गुरु भर्तृहरि के पास जाकर कहा-आपके भाई तो बहुत गरीब जैसे हैं, उनके तन पर तो एक वस्त्र भी नहीं, वे जंगल में रहते हैं उनके पास न कोई आश्रम है, न कोई साधन। भर्तृहरि ने सोचा अरे! मेरा भाई इस अवस्था में है, और अपने शिष्यों के माध्यम से वह रसायन उनके पास भिजवाया, और कहलवाया कि उनसे कहना- इस रसायन से स्वर्ण बन जाता है।

शिष्य वह रसायन लेकर पहुँचे, किन्तु शुभचन्द्राचार्य ने उसे स्वीकार नहीं किया। भर्तृहरि ने सोचा, शायद रसायन कम होगा, तो पुनः ज्यादा रसायन देकर भेजा। किन्तु उन्होंने वह भी स्वीकार नहीं किया, अबकी बार भर्तृहरि स्वयं गये, सोचा मेरे भाई के मन में यह भाव होगा, देखो! मेरा भाई अपने शिष्यों द्वारा रसायन भिजवा रहा है, स्वयं नहीं आ रहा और स्वयं बहुत सारा रसायन लेकर गये। कहा- भाई! मुझे आपको इस दशा में देखकर बहुत दुःख होता है, आप ये लो रसायन और स्वर्ण बनाओ। शुभचन्द्र ने कहा- भर्तृहरि तुझे यदि सोने की ही चाहत थी, तो राज्य वैभव क्यों छोड़ा, वहाँ क्या कमी थी? तुम्हें वैराग्य था तभी तो तुमने दीक्षा ली, यहाँ पर आकर तुम फिर से इसी में फँस गये। फेंक दो इस रसायन को, और रसायन मिट्टी में डलवा दिया। भर्तृहरि को बहुत दुःख हुआ, मैंने जिस मेहनत से बारह वर्ष में रसायन को सिद्ध किया और मेरे भाई ने इसे यहाँ मिट्टी में डलवा दिया।

शुभचन्द्र स्वामी, भर्तृहरि के चेहरे के भावों को पहचान गये और उन्होंने अपने पैर की धूलि उड़ाकर सामने फेंकी, और कहा- देख! सामने क्या है? पूरा पहाड़ ही सोने का हो गया। तुझे सोना चाहिये, तो ले जा सोना। क्या तूने इसीलिये गृहत्याग किया था। भर्तृहरि को बात लगी, तब वे शुभचन्द्र के संबोधन से प्रतिबुद्ध हुये, आत्मबोध को प्राप्त हुये। दोनों भाई अलवर के पास एक स्थान पर मिले थे, वहीं पास में एक ग्राम है जिसका नाम आज भी है 'भर्तृहरि का मठ'। दूसरा ग्राम पड़ता है जिसका नाम है 'थानागाजी' शुभचंद्र जी वहाँ रहते थे, उनके शिष्यों में एक थे 'नागाजी' अर्थात् नग्नसाधु, एक थे भर्तृहरि। जहाँ आचार्य साधना करते थे वहीं पहाड़ की चोटी पर जो आज भी है, समीप में बस्ती बस गयी वह एक था नागाजी इस स्थान से वर्तमान में 'एक' शब्द तो लुप्त हो गया, उस ग्राम का आज नाम है 'थानागाजी' वैसे नाम था 'एक था नागाजी'। एक दिगम्बर साधु वहाँ थे, और दूसरे थे भर्तृहरि' आज भी थानागाजी और भर्तृहरि दोनों गाँव पास-पास में हैं।

उन्हीं शुभचन्द्राचार्य ने एक ग्रंथ लिखा है- 'ज्ञानार्णव'। उस ग्रंथ में मानो ज्ञान का समुद्र ही उढेल दिया हो। 12 भावनायें, 5 महाव्रत, 5 समितियों का कथन, ध्यान का कथन किया है एवं साधुचर्या का कथन किया है। संभव है उन्होंने वह ज्ञान का समुद्र अपने भाई भर्तृहरि को संबोधन देने के लिये किया। वह 'ज्ञानार्णव' जिसमें ज्ञान की उत्तुंग लहरों से अंतरंग में कूड़े-कचरे का नाम निशान नहीं रहे, वे लहरें उस कचरे को अपने साथ बहाकर बिल्कुल बाहर छोड़ दें और नीचे रत्नों को छिपाकर रखें। ऐसा ज्ञान का सागर यह ज्ञानार्णव ग्रंथ जिसके रहते मन में विकार नहीं टिक

पाते, अंतरंग में गुणरत्नों का समूह एकत्र होता चला जाता है उन्होंने उस ग्रंथ में सज्जन व दुर्जन के संबंध में लिखा है-

"विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिपरेषां परपीड़नाय।
खलस्य साधुर्विपरीत-मेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥"

आचार्य भगवन् कहते हैं- दुष्ट की विद्या विवाद के लिये, धन अहंकार के लिये, शक्ति दूसरों को पीड़ा देने के लिये होती है। यदि किसी दुष्ट को विद्या प्राप्त होती है तो वह विद्या को प्राप्त करके विवाद करता है, संवाद नहीं करता। वह अपना अहंकार पुष्ट करता है दूसरों का अपमान करता है और अपनी तर्क शक्ति के माध्यम से अच्छी भली सभा में भी विवाद पैदा कर देगा। कहीं सत्संग, शास्त्रवाचना या तत्त्वचर्चा चल रही हो वहाँ आकर एक नयी बात छेड़कर विवाद करने लगेगा। यह दुष्ट का स्वभाव होता है जो अपनी तीनों शक्तियों का दुरुपयोग करता है। वह विद्या का प्रयोग कभी आत्महित के लिये नहीं करता, कभी पर हित के लिये नहीं करता, वरन् सदैव अपने अहंकार के पोषण के लिये करता है और दूसरों का तिरस्कार व विवाद पैदा करने के लिये करता है।

धन का प्रयोग यदि दुष्ट व्यक्ति करता है तो वह भी अहंकार का पोषण करने के लिये, दूसरों को सताने के लिये और दूसरों से पैसा वसूल करने के लिये। Money begets money पैसे से पैसा आता है इसलिये दूसरों पर कर लगा दिया, गरीबों को सता-सता कर वह पैसा वसूल करता है। दुष्ट का पैसा दूसरों को कष्ट व दुःख देने वाला होता है। दुष्ट का धन दूसरों का धन हरण करने वाला होता है।

यदि किसी दुष्ट के पास शक्ति है चाहे वह धन बल हो, तन बल हो, मन बल हो, सैन्यबल हो वह उसके माध्यम से दूसरों को परेशान ही करता है। दुष्ट राजा है तो दूसरे राजाओं पर बार-बार आक्रमण करेगा, यदि सामान्य रहीस है तब भी दूसरों को परेशान करेगा, यदि पहलवान् है तो अपनी शक्ति का दुरुपयोग अन्य प्रकार से करेगा। वह दुर्जन कभी सदुपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी रग-रग में दुर्जनता होती है। आचार्य कहते हैं

विसं दंतम्मि सप्पस्स, मत्थम्मि मक्खियाइ य।
मसगस्स विसं डंके, सव्वंगम्मि सढाण य॥

मच्छर के डंक में विष होता है, सर्प के दंत में विष होता है मक्खी के मस्तिष्क में विष होता है किन्तु दुष्ट के तो सर्वांग में विष होता है। वह कहेगा कुछ, देखेगा कुछ, करेगा कुछ और सोचेगा कुछ उसकी रग-रग में दुष्टता ऐसे भरी होती है जैसे गन्ने में मीठापन, नमक में खारापन।

महानुभाव! दुर्जन का यह स्वभाव होता है वह अपनी किसी भी शक्ति को चाहे विद्या हो, धन हो, शक्ति हो, रूप हो, चाहे सत्ता हो या प्रभुता जो कुछ भी उसे प्राप्त होता है उसके माध्यम से वह दूसरों को कष्ट देने वाला ही होता है। दुर्जन के पास जितनी शक्तियाँ या विशेषतायें बढ़ती जायेंगी, वह उनसे उतना ही ज्यादा पाप कमायेगा। दुष्ट की शक्ति का संवर्धन, दुष्ट की विद्या-बल-प्रभुता आदि का संवर्धन अभिशाप स्वरूप होते हैं उससे किसी को लाभ नहीं मिलता। यहाँ तक कि उसे स्वयं को भी लाभ नहीं मिलता।

वहीं दूसरी तरफ यदि सज्जन व्यक्ति के पास ये सब चीजें

हों तो सज्जन इन्हें प्राप्त करके हित करता है, परोपकार में संलग्न रहता है, पुण्य का संचय करता है। इस संबंध में आचार्य महोदय स्वयं कह रहे हैं-

'खलस्य साधुर्विपरीतमेतत्' खल अर्थात् दुष्ट, साधु अर्थात् सज्जन। दुष्ट की प्रवृत्ति इनको पाकर अलग होती है साधु पुरुष की प्रवृत्ति अलग। सज्जन के पास यदि ये तीनों विद्या, धन व शक्ति है तो विद्या ज्ञान के लिये अर्थात् वह विद्या आत्मज्ञान का संवर्धन करने के लिये होती है।

महानुभाव! यदि सज्जन और दुर्जन को समझना चाहते हैं तो कौरवों और पाण्डवों को देखें। कौरव हमेशा अपने अहंकार का पोषण करते रहे। बचपन से ही उन्हें पाण्डवों से ईर्ष्या थी कि ये हमसे ज्यादा बलशाली हैं। भीम में अपार शक्ति है इसलिये कौरवों ने मिलकर अनेक बार भीम को मारने का प्रयास किया पर हर बार असफल रहे। जब अर्जुन को धनुर्विद्या में अपने से ज्यादा श्रेष्ठ पाया तब उनकी ईर्ष्या और ज्यादा बढ़ गई। कौरवों और पाण्डवों को आधा-आधा राज्य दिया गया पर एक समय दुर्योधन ने कहा कि हम 100 भाई हैं इसलिये इस राज्य के 105 टुकड़े होने चाहिये और हमें 100 हिस्से देने चाहिये। हमारे साथ अन्याय हुआ है और वह युद्ध के लिये तत्पर हो गया क्योंकि दुर्जनों का ये स्वभाव होता है कि वे बात-बात में झगड़े के कारण खोजते हैं।

उधर युधिष्ठिर ने अपने सभी भाईयों को समझाकर युद्ध को टाल दिया क्योंकि सज्जन पुरुष बढ़ते हुये बैर को शान्त करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। और उधर कौरव (दुर्योधन) सदा इसी चिन्ता में डूबा रहता कि किस प्रकार पाण्डवों को

अपमानित किया जाये। इसी सोच-विचार में एक दिन उसने लाख का भवन बनवाया और छल-कपटपूर्वक उसमें पाण्डवों को रहने का प्रस्ताव रखा। जब पाण्डव उस भवन में रहने गये तब एक दिन उसमें चारों तरफ से आग लगवा दी ये होती है दुर्जनता, ईर्ष्या जहाँ न अपने अच्छे-बुरे का ध्यान रहता है न दूसरे का। पर धर्मात्मा पुरुषों की सज्जन पुरुषों की, हमेशा रक्षा होती है सो पाण्डव इस आपत्ति से भी बच निकले। एक समय पाण्डवों ने अपना राज्य फिर से प्राप्त कर लिया तब दुर्योधन ने फिर कपट का सहारा लिया और युधिष्ठिर को अपने यहाँ निमंत्रण देकर बुलाया तथा छल से द्यूतक्रीड़ा में उसका सब कुछ जीत लिया तथा उन्हें 12 वर्ष का वनवास दे दिया गया। एक बार जब पाण्डव वन में जीवन यापन कर रहे थे तब दुर्योधन ने उन पर अपनी सेना तैयार कर आक्रमण किया लेकिन वह गन्धर्वों के द्वारा बन्दी बनाया गया और उस समय भी पाण्डवों के द्वारा उसे वहाँ से छुड़वाया गया, मुक्त कराया गया। एक तरफ दुर्जन व्यक्ति का स्वभाव कि वह अपने धन, अपनी शक्ति, अपनी बुद्धि का प्रयोग बार-बार दूसरों को कष्ट देने में, दु:ख देने में कर रहा है और दूसरी तरफ सज्जन पुरुष जो हर बार दुर्जन को भी बचा रहा है।

इतने में भी दुर्योधन को संतुष्टि नहीं हुई उसके अन्दर मानभंग की शल्य डली रही तब उसने एक घोषणा कराई कि जो भी पाण्डवों को नष्ट कर देगा वह उसे अपना आधा राज्य देगा और एक कनकध्वज नामक व्यवसायी के साथ मिलकर पाण्डवों को नष्ट करने का उद्यम किया जिसमें कनकध्वज का स्वयं सर्वनाश हो गया और पाण्डव जो धर्मात्मा थे, बुद्धिमान्,

कलाकौशल से सम्पन्न थे उनका कुछ भी नहीं बिगड़ा सज्जन पुरुष की धर्म सदैव रक्षा करता है और सज्जन पुरुष कभी भी विकार युक्त नहीं होते सदैव समभाव रखते हैं चाहे व्यक्ति उनका अच्छा करें या बुरा/सज्जनों का स्वभाव चंदन की भाँति होता है उसे कितना भी घिसो फिर भी सुगंध ही देता है सज्जनों के माध्यम से किसी में भी भय का संचार नहीं होता, उद्वेग नहीं होता अपितु उनको देखकर तो सभी के हृदयों में आनंद का निर्झर फूट पड़ता है। कहा भी है-

यस्य कृत्तेन कृत्स्नेन सानंदः स्याज्जनोखिलः।
सौजन्यं तस्य तज्ज्ञेयं विपरीतमतोऽन्यथा॥

महानुभाव! दुर्जन अपनी वस्तु का दुरुपयोग करते हैं इसीलिए दुर्जन हैं और जो सदुपयोग करना सीख जाते हैं वे सज्जनों की श्रेणी में आ जाते हैं। सज्जन पुरुष वे कहलाते हैं जो अपनी किसी भी कला/ज्ञान को दूसरों के हितार्थ देना चाहते हैं। वे ज्ञान को नि:स्वार्थ भावना से बाँटते चले जाते हैं, बदले में कोई भावना नहीं। वे साधु पुरुष सूर्य और चन्द्रमा की तरह से, वृक्ष और मेघ की तरह से, नदी और समुद्र की तरह से सबका उपकार करते हैं।

जैसे सूर्य सभी को प्रकाश देता है, चंद्रमा चाँदनी देता है, आकाश सबको अवगाहन देता है, धरती सबको स्थान देती है, वृक्ष सभी को फल देते हैं, गाय सभी को दूध देती है, समुद्र सभी को रत्न देता है, नदियाँ जल देती हैं वैसे ही सज्जन पुरुष अपनी विद्या व धन का सदुपयोग करता है। उसकी शक्ति किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं होती। उसकी विद्या ज्ञान के लिये तथा धन 'दानाय' दान के लिये होता है। वह अपने धन को तो बहुत अल्प भोगता है किन्तु दूसरों के हित के लिये खुले मन

से लुटाता है। जिसे भी आवश्यकता है चाहे वह जरूरतमंद व्यक्ति स्वयं धन माँगने नहीं आये किन्तु इन सज्जनों की सज्जनता ऐसी होती है ये स्वयं रात्रि में नगर-ग्राम में चक्कर लगाते हैं। चोर चक्कर लगाता है चोरी करने के लिये और सज्जन चक्कर लगाते हैं जरूरतमंदों को दान देने के लिये। उनकी भावना यही रहती है सभी व्यक्ति सुख से अपना जीवन व्यतीत करें।

कई राजाओं के बारे में आता है कि वे रात्रि में भेष बदलकर के चक्कर लगाते थे, और जहाँ आवश्यकता होती थी वहाँ मदद रूप धन भिजवा देते थे। उन राजाओं का आदर्श ऐसा था कि वे स्वयं परहित में परिश्रम करते थे। ऐसे कई श्रेष्ठीजन हुये जिन्होंने अपना धन पर हित में लगाया। कई जैन भक्त ऐसे हुये जिनकी जीवनी पढ़ी तो पता चला कि जिन जैनों ने अपना धन पसीना बहाकर, ईमानदारी से कमाया, उस धन को उन्होंने अपना नाम किये बिना, ख्याति की चाह के बिना स्वयं किसी गरीब के घर जाकर चुपचाप कहीं अनाज की पोटली रख आये, वहाँ पत्र लिख आये यह आपके लिये भेंट है, वस्त्र नहीं हैं तो वस्त्र रख आये, क्योंकि वे जानते थे, हम जो काम कर रहे हैं उसे हमारी आत्मा जान रही है और हमारा परमात्मा जान रहा है। दो जान रहे हैं तीसरे को जानने की आवश्यकता नहीं।

महानुभाव! जिस तरह स्नेह कभी किसी को दिखाकर नहीं किया जाता, ऐसे ही दान देने वाले व्यक्ति जब दान देते हैं तो वे यही सोचते हैं कि हम जो दान दायें हाथ से दे रहे हैं, वह हमारे बायें हाथ को भी पता न चले कि हमने क्या दान दिया। दान मधुर स्वरों को मुखरित करते हुए विनम्रता से देना चाहिए। कवि रहीम और गंग बहुत अच्छे मित्र थे। सबुह उठकर घूमने जाना,

लौटते हुए मंदिर के बाहर बैठे हुए निर्धनों को आवश्यकतानुसार वस्तुएँ प्रदान करना उनकी दिनचर्या में शामिल था। एक दिन गंग, रहीम से बोले कि रहीम! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ। मुझे यह बात समझ नहीं आती कि मैं तुम्हें रोज दान करते हुए देखता हूँ, तुम्हारी निगाह हमेशा नीची रहती है आखिर इसका क्या कारण है? रहीम मुस्कुराये और बहुत सुन्दर उत्तर दिया-

देनदार कोई और है, देता है दिनरैन।
लोग भरम मुझ पर करें, ताके नीचे नैन॥

अरे! मेरे पास तो कुछ नहीं है। मुझे देने वाला तो कोई और है, परमात्मा है, उन्हीं की दी हुई वस्तुओं को बाँट रहा हूँ, दे रहा हूँ इसीलिए मेरी आँखें नीची रहती हैं। तो सज्जन पुरुष अपने धन का प्रयोग दान में करते हैं और तीसरी बात वे अपनी शक्ति का प्रयोग दूसरों की रक्षा करने के लिये करते हैं। चाहे वे अपने शरीर पर बहुत सारा कष्ट सहन कर लें किंतु वे अपनी शक्ति का प्रयोग दूसरों के दु:ख को दूर करने के लिये करते हैं। आपको भी यदि ये चीजें प्राप्त होती हैं विद्या, धन और शक्ति तो आप भी दूसरों का हित करने की कोशिश करें यही आत्म कल्याण का शाश्वत मार्ग है। आपके पास जो भी अच्छी वस्तु है उसका सदुपयोग करो, बुरी वस्तु को स्टोर रूम में डाल दो। अच्छी वस्तु का सदुपयोग नहीं करोगे तो वह खराब हो जायेगी, बिगड़ जायेगी। आपसे हम यही अपेक्षा रखते हैं कि आप अपनी विद्या का, धन का व शक्ति का सदुपयोग करेंगे और आत्महित के मार्ग में अग्रसर होंगे। ऐसी मंगल भावना के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

नरक के तीन द्वार

महानुभाव! जीवन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, इसलिये इस पर विशेष ध्यान देना बहुत जरूरी है। जो वस्तु ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है, बहुमूल्यवान् होती है व्यक्ति उस पर ज्यादा ध्यान देता है, अल्पमूल्य वाली वस्तु पर कम ध्यान देता है। यदि कोई व्यक्ति चला जा रहा हो उसके एक हाथ में जल का पात्र हो और दूसरे हाथ में घी से भरा पात्र हो और कदाचित् उसका पैर फिसलने लगे तो वह पहले घी के पात्र को संभालेगा क्योंकि जब वो संभलेगा तो जल के पात्र को फेंककर, उस हाथ को टेककर घी को फैलने से बचायेगा। पात्र दोनों एक से थे, जल बिखर गया और घी को बचा लिया। जल तो दुबारा भी प्राप्त किया जा सकता है, घृत का पात्र यदि गिर जाता तो उसे प्राप्त करना जरा मुश्किल हो जाता। क्योंकि जलपात्र का मूल्य बहुत अल्प है और घी का पात्र बहुमूल्य है। यदि घी का पात्र गिर जाता तो वह सोचता इसके जितने मूल्य में जल के सैकड़ों पात्र आ सकते थे। बुद्धिमान् वही है जो घी के पात्र को बचाने हेतु जल पात्र को छोड़ दे, मूर्ख होगा तो वह दोनों को संभालने की चेष्टा करेगा और एक को भी संभाल न पायेगा।

महानुभाव! ऐसे ही जब जीवन बहुत महत्त्वपूर्ण है तो जीवन का अच्छी तरह से सदुपयोग करें, जिससे हम इस जीवन से वह प्राप्त कर सकें जो हम किसी अन्य जीवन से प्राप्त न कर सके। यदि ऐसा नहीं किया तो इस जीवन से भी वही हासिल करेंगे जो पशु-पक्षी या अन्य जीव हासिल करते हैं। यदि यह जीवन व्यर्थ किया तो हमारे व पशुओं के जीवन में व उसके मूल्यों में

भी कोई अंतर नहीं। इस मनुष्य अवस्था को प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति सुगति का पात्र बन सकता है और इसी अवस्था को प्राप्त करके दुर्गति का पात्र भी बन सकता है। सुगति का पात्र बनना अच्छा है किन्तु सुगति की प्राप्ति तो तब होगी जब दुर्गति के पथ का त्याग कर दें। दुर्गति के पथ पर चलता व्यक्ति सुगति को कैसे प्राप्त करेगा।

दुर्गति नरकगति को कहा जाता है और कदाचित् तिर्यंच गति को भी दुर्गति कह दिया जाता है या देवदुर्गति। सबसे खतरनाक व दु:खद होती है नरक गति, क्योंकि एक बार नरकायु का बंध कर लिया तो बीच में उसका अकालमरण नहीं हो सकता पूर्णायु भोगनी ही पड़ेगी। तिर्यंचायु का बंध कर लिया तो संभव है पशु-पक्षी बनकर वह अकालमृत्यु को भी प्राप्त कर ले। किन्तु नरक की जितनी आयु का बंध किया है, उसके एक क्षण को भी कम नहीं किया जा सकता। इसलिये नरकायु से बचने के लिये उन कारणों से बचें जिनसे नरकायु का बंध होता है। जिनशासन में नरकायु के कारण बताते हुये लिखा है-

'सप्त व्यसन' मानो सात नरक में जाने के द्वार हैं। अन्य आचार्य कहते हैं- रौद्र ध्यान नरकगति में जाने का मुख्य कारण है। आचार्य उमास्वामी जी महाराज ने लिखा- 'बहुआरंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष:' बहुत आरंभ-परिग्रह नरकगति के बंध का कारण है। किन्हीं आचार्य ने लिखा कि कृष्णलेश्या युत परिणाम नरक गति का कारण हैं। महानुभाव! अब हम क्रिया पर न जाकर परिणामों को देखें कि ऐसे कौन से परिणाम हैं जिन परिणामों को करने से नरकायु का बंध होता है। नरकायु के संक्लेशित परिणाम जिससे मात्र पाप ही पाप का आश्रव हो रहा है, जिससे

किंचित् भी शुभाश्रव नहीं हो रहा। कषायों की तीव्रता भी है इसी कारण वह अनुभाग और स्थिति बंध भी ज्यादा बाँध सकता है।

नारायण श्रीकृष्ण ने गीता में जो आध्यात्मिक उपदेश दिया है उन्होंने भी नरकायु के बंध के तीन कारण कहे। आचार्य उमास्वामी जी ने जो बात कही उसी को उन्होंने तीन प्रकार से कहा। बहुआरंभ परिग्रह कहने से इसमें रौद्रध्यान भी ले लिया, अशुभ लेश्या भी ले ली और कषाय की तीव्रता भी ले ली। किंतु यहाँ पर विस्तार से समझाने के लिये कहा है-

त्रिविधं नारकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामक्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

महानुभाव! नरक को प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के द्वार हैं, जो आत्मा का नाश करने वाले हैं। व्यक्ति द्वार तक पहुँच गया तो नरक में जायेगा ही, और नरक में जायेगा तो आत्मा के गुणों का नाश तो होगा ही। आत्मा का नाश ऐसे नहीं होता किन्तु पर्यायों का नाश होता है, गुणवत्ता का नाश होता है। दोष जब आते हैं तब गुणों का नाश होता है। गुणों का नाश किये बिना दोषों का आविर्भाव नहीं होता और दोषों का नाश किये बिना गुणों का आविर्भाव नहीं होता।

यहाँ बताया- काम, क्रोध व लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं। पहला द्वार है 'काम'। व्यक्ति काम की तीव्रता से पागल सा हो जाता है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है यूँ तो ये तीनों ही कारण बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं जब तक बुद्धि भ्रष्ट नहीं हुयी, तब तक कोई व्यक्ति नरक में जाने का कार्य नहीं कर सकता। बुद्धि भ्रष्ट होते ही तीनों में से कोई भी कारण नरक जाने के लिये

प्राप्त कर सकता है। काम की तीव्रता तभी जागती है जब बुद्धि भ्रष्ट हो। तब व्यक्ति न लोकलाज को देखता है, न मर्यादा को और न धर्म को देखता है, न अपनी संस्कृति को देखता है, न अपने कर्त्तव्यों को देखता है, वह सबकी इति श्री कर देता है।

महानुभाव! एक सुप्रसिद्ध उदाहरण सभी जानते हैं वह त्रिखण्डाधिपति लंकेश। जो सीता पर मोहित हुआ और सीता का अपहरण किया। काम की तीव्रता मन में जागी, वह अपने आप पर नियंत्रण नहीं कर पाया। इतना नियंत्रण तो किया कि अपना नियम नहीं तोड़ा, उसका नियम था- 'जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी उसका बलात् सेवन नहीं करूँगा', फिर भी उसने सीता का अपहरण किया और अपनी स्त्री बनाने की पूरी चेष्टा की। किंतु उस सती शीलवती स्त्री के सामने उसका वश न चल सका, उसकी कोई भी विद्या काम न कर सकी, क्योंकि शील की शक्ति काम की शक्ति से बहुत ज्यादा होती है। जैसे जल की शक्ति अग्नि की शक्ति से ज्यादा होती है इसलिये जल अग्नि को बुझा देता है। जो काम से पीड़ित है, वह यदि किसी सती पर उपसर्ग करे तो वह उपसर्ग कर नहीं सकता, उसे हार माननी ही पड़ेगी। सती के शील के प्रभाव से देव शक्ति भी आकर उस कामी को दण्ड दे सकती है और ऐसा कई बार हुआ भी है।

रावण ने काम की तीव्रता से परस्त्री का अपहरण किया, नाना प्रकार के कार्य किये उसे अपनी स्त्री बनाने के लिये, कई बार अपनी दासियों को भेजा, मन्दोदरी को भेजा इतना ही नहीं लोभ और प्रलोभन दिये किन्तु सीता अपने शील से च्युत नहीं हुयी, उनका मन भी चलायमान नहीं हुआ। काम की तीव्रता को धारण करने वाला चाहे चंदनबाला पर उपसर्ग करने वाला

व्यक्ति हो, चाहे सुरसुंदरी पर उपसर्ग करने वाला रहा, चाहे अनंतमती पर, चाहे मदनलेखा पर किसी भी सती पर उपसर्ग किया, वह कामी व्यक्ति दुर्गति का ही पात्र बना। जिसने सती की ओर आँख उठाकर भी देखा वह सती का तो बालबाँका भी नहीं कर पाया किंतु वह अपने अशुभ परिणामों की तीव्रता से अशुभगति (नरक) के द्वार तक जा पहुँचा।

महानुभाव! दूसरा नरक का द्वार कहा- 'क्रोध।' क्रोध तो एक ऐसी भयंकर अग्नि है जो आत्मा के गुणों को स्वाहा करने में समर्थ है। जठराग्नि की तीव्रता केवल उदर के भोजन को पचा सकती है, दावाग्नि की तीव्रता केवल जंगल को स्वाहा कर सकती है, बडवाग्नि की तीव्रता जल को जला सकती है, किन्तु क्रोध की अग्नि इतनी विषम होती है कि जो भी सामने आता है वह स्वाहा हो जाता है।

दुर्गजेषु कुजेष्वग्नौ, जातेऽन्योन्यप्रघर्षणात्।
दग्धास्त इव दृग्वृक्षं, क्रोधवह्निर्दहेद्ध्रुवं॥ दा.शा.॥

जिस प्रकार वृक्षों के टकराने से उत्पन्न हुई अग्नि से सब वन जल जाता है वैसे ही क्रोधाग्नि से सुदृष्टि का सम्यक्त्व जल जाता है।

क्रोध एक ऐसी अग्नि है जिसने अनेक राजवंशों तक को नष्ट कर दिया आज उन वंशों का नाम निशान तक नहीं रहा। शायद जंगल की अग्नि से इतने जंगल जलकर स्वाहा नहीं हुये जितने ज्यादा राजवंश क्रोध की अग्नि से जलकर खाक हो गये। क्रोध के आवेश में जो कोई भी आता है सबसे पहले अपना सर्वनाश करता है और जरूरी नहीं सामने वाले का नाश कर ही

पाये। क्रोध के आवेश में वे द्वीपायन मुनि जो घोर तपस्वी साधक, ऋद्धियों से सम्पन्न थे, जब उन पर यदुवंशी राजकुमारों ने उपसर्ग किया तब उनके शरीर से तैजस पुतला निकला जिस पुतले से पूरी द्वारिका नगरी जलकर भस्म हो गयी। जो द्वारिका नगरी जल के मध्य में बसी हुयी थी, वह भी अग्नि की लपटों में ऐसे स्वाहा हो गयी जैसे रुई के ढेर में आग लगा दी हो। उसे बचाने के लिये समुद्र में से जल भी डाला गया, किन्तु वह जल उसे जलाने से बचा नहीं पाया, उसने तो जलने में जैसे ईंधन का काम किया हो।

क्रोध के आवेश में कंस ने उपसर्ग किये साधुओं पर, धर्मात्माओं पर और सज्जनों पर। क्रोध के आवेश में कुर्युधर क्रूरकर्मा जिसने पाण्डवों को मुनि अवस्था में लोहे के आभूषण गर्म-गर्म करके पहनाये। महानुभाव! ये क्रोध स्वयं के शरीर के तत्त्वों को भी जलाता है और आत्मा के गुणों को भी जलाता है। ये ऐसी अग्नि है जो दो प्रकार के ईंधन को नष्ट करती है। अन्य प्रकार की अग्नि सिर्फ एक प्रकार का ईंधन जलाती है। क्रोध की अग्नि आत्मा के गुणों को भी नष्ट करती है और शरीर के सत्त्व, बल, तेज, कांति-ओज को भी नष्ट करती है। क्रोधी व्यक्ति का चेहरा काला पड़ जाता है, क्रोधी क्रोध में कोई भी बड़े से बड़ा पाप करने को तैयार हो जाता है, इसलिये वह परिणामों की अशुद्धि से नरकायु का बंध करता है।

महानुभाव! तीसरा नरक का द्वार है 'लोभ'। जिसके चित्त में लोभ की अग्नि जलती है, उस व्यक्ति का हित करने में कौन समर्थ हो सकता है। लोभ व्यक्ति से कुछ भी करा सकता है, नीच से नीच, अधम से अधम कार्य लोभ करा सकता है। लोभ

आँखों पर पट्टी बाँध देता है जिससे व्यक्ति अंधा हो जाता है। लोभ के आवेश में चाहे कौरवों ने महाभारत का युद्ध किया, चाहे कंस ने लोभ के आवेश में अपने पिता को जेल में डलवा दिया, चाहे राजा श्रेणिक ने मुनिराज पर उपसर्ग किया बदला लेने की भावना की कि मैं अपने बौद्ध अनुयायियों का साथ दूँ और नरकायु का बंध किया। बाद में जब उसे सत्यबोध हुआ तब उसने उस नरकायु को काटने का बहुत प्रयास किया किन्तु पूरी आयु काट नहीं पाया।

लोभ में आकर मम्मन सेठ जो नदी में आई बाढ़ के साथ बहकर आने वाली लकड़ियों को बीन-बीन कर रात भर अपने प्राणों को हथेली पर रखकर इकट्ठा करता रहा। वह लोभी चिड़िया जो दाना चुग रही है रेलवे की लाइन पर, और पक्षी तो उड़ गये, उसने देखा गाड़ी बहुत दूर है वह दाना चुगती रही, अन्य चिड़ियाओं ने बुलाया भी किन्तु जब गाड़ी पास आ गयी, उसने उड़ने का साहस भी किया तो गाड़ी से टकराकर मृत्यु को प्राप्त हो गयी।

एक जगमाल हड़प्पा नाम के सेठ थे, जग के माल को जो हड़प जाये ऐसे जगमाल हड़प्पा सेठ जो बहुत लोभी थे। एक बार उन्होंने अपने घर में दो नौकरों को रखा, और उनसे कहा था कि मैं आपको दस हजार रुपये महीने तनख्वा दूँगा, दोनों को बीस हजार रुपये महीने। एक साल के उपरांत दोनों को दो लाख चालीस हजार रुपये मिल जायेंगे। किन्तु एक बात याद रखना यदि एक भी गलती हो गयी तो एक गलती के मैं अस्सी हजार रुपये काट लूँगा और अन्त में आपसे तीन काम कराऊँगा।

दोनों नौकरों ने बड़ी ईमानदारी के साथ काम किया, समय पूर्ण हुआ और अंतिम दिन आ गया। उन्होंने कहा- सेठ जी! अब तो आप हमें हमारा वेतन दे दीजिये। सेठ ने कहा- अभी तो शाम बाकी है मेरे तीन काम बाकी हैं। वे बोले- आप अपने तीन काम बताइये? सेठ ने बताया, पहला काम तो ये है, ये सामने जो काँच का बड़ा सा जग रखा है, और छोटा सा स्टील का जग रखा है आप सबसे पहले इस बड़े जग को छोटे जग में रख कर बताओ, ये काम नहीं कर पाये तो 80,000 रु. काट लूँगा। दूसरा काम ये है कि जो हमारे यहाँ गेहूँ धुले रखे हैं, उन्हें कमरे से बाहर नहीं निकालना और गेहूँ को सुखाना है। तीसरा काम है मेरा जो सिर है, मात्र इसका वजन करके बताओ।

दोनों नौकर जिन्होंने पूरे वर्ष ईमानदारी से सेवा की, बेचारे घबरा गये, क्या करें, उन्होंने सोचा आज अंतिम दिन है, हम सेठ जी के तीनों काम करेंगे। जाकर बड़े जग को तोड़कर छोटे जग में रख दिया, और हथौड़ा लेकर छत पर पहुँच गये छत को तोड़ने के लिये, छत तोड़ेंगे तो सूर्य का प्रकाश वहाँ आयेगा, गेहूँ सूख जायेंगे और तीसरे काम को करने जाने लगे। तब तक सेठ जी आ गये, क्या कर रहे हो? वे बोले हमने दो काम कर दिये, तीसरा काम करने जा रहे हैं। सेठ ने आश्चर्य से पूछा- क्या तुमने बड़ा जग, छोटे जग में रख दिया? वे बोले हाँ, हमने उसे तोड़कर रख दिया। अरे! तुमने तो मेरा नुकसान कर दिया- सेठ जी! आपने ये नहीं कहा था कि जग को तोड़े बिना रखना है, इसलिये हमने तो रख दिया, गेहूँ सुखाने के लिये छत को तोड़ दिया जिससे सूर्य का प्रकाश यहाँ तक आ सके और रही बात आपके सिर के वजन की, वह तो बीस किलो है। सेठ बोला-

यदि इससे कम-ज्यादा हुआ तो? तो सेठ जी कोई बात नहीं, हमें पता था आपको शंका होगी, इसलिये हम साथ में कटारी व तराजू बाँट भी लाये हैं यकीन न हो तो अभी हम काट कर तौल देते हैं। सेठ ने कहा- अरे! मुझे क्षमा करो, मेरे मन में लोभ आ गया था, मैं तुम्हारा वेतन तुम्हें देना नहीं चाहता था। लो अपना वेतन और मुझे माफ करो।

तो लोभी व्यक्ति की परिणति ऐसी ही होती है, लोभ में आकर उसे अक्सर अपना ही नुकसान उठाना पड़ता है, इसलिये जीवन में कभी भी लोभ नहीं करना चाहिये।

महानुभाव! ये काम-क्रोध व लोभ नरक के तीन द्वार हैं इन्हें छोड़ देना चाहिये। जो नरक में जाना नहीं चाहते वे इन तीनों कारणों से बचें, ये तुम्हारे परिणामों को बिगाड़ने में कारण हैं अपनी आत्मा का कल्याण करो ये ही श्रेयोमार्ग है। आप सभी श्रेयोमार्ग के पथिक बनें, ऐसी आप सभी के प्रति मंगल भावना भाते हैं व इन्हीं भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

कौन है हमारा?

महानुभाव! संसारी प्राणियों की एक प्रवृत्ति है वह यह कि जिसे वे अपना मानते हैं, उसके लिये सब कुछ करने को तैयार हैं और जिसे अपना नहीं मानते हैं, उसकी तरफ देखना भी नहीं चाहते। निर्णय पहले ये करें कि वास्तव में संसार में अपना कौन है? हम संसार की जितनी भी वस्तुयें इकट्ठी करते हैं, चाहे वे चैतन्य वस्तुयें हैं और चाहे वे अचेतन वस्तुयें, उनमें से अपना कौन-कौन है? कोई कहता है कि परिवार मेरा है, कोई कहता है मित्र मेरे हैं, कोई कहता है मेरा कोई नहीं, मैं ही अपना हूँ, तो कोई कहता है कोई काम आये या न आये मेरा धन-मकान तो मेरा है, कोई साथ नहीं भी देगा तो यह कोठी बेचकर अपना काम चला लूँगा। कोई मकान-दुकान आदि को अपना कहता है।

प्राय:कर व्यक्ति 'मेरे' शब्द का प्रयोग सबके साथ कर लेता है। जो उसे अच्छा लगा उसके साथ भी, और जो बुरा लगा उसके साथ भी। मित्र को तो दुनिया अपना कहती ही है मेरा मित्र, मेरे पिता, मेरे भाई, मेरी माँ आदि किन्तु व्यक्ति शत्रु को भी 'मेरा' ही कहता है कि ये मेरा शत्रु है, दुश्मन है। भोग सामग्री हो या उपभोग सामग्री, सब मेरी है। दृश्यमान वस्तु यदि मैंने देख ली तो मेरी हो गयी, ऐसे मेरा-मेरा कहता है। वह कहता है-

असनं मे वसनं मे जाया मे बंधुवग्गो मे।
मे मे इति कुव्वंतो काल विको हणदि पुरिसाजं॥

अशन अर्थात् भोजन सामग्री। एक व्यक्ति कहता है यह पूरी रसोई मेरी तरफ से बनी है यह मेरी है। एक कहता है जिससे

यह भोजन बना, वह अनाज की बोरियाँ मेरी हैं, एक कहता है जो खेत में धान्य हुआ चावल या दाल आदि सब मेरा है। भोजन सामग्री में चाहे कुछ भी है, वह उसको अपना कहता है। वह केवल कहता ही नहीं अपितु उसके प्रति अपनत्व का व्यवहार भी करता है। जैसे दो बालक हैं दोनों के हाथ में लड्डू हैं यदि उनमें से कोई किसी का लड्डू खा जाये तो झगड़ा हो जायेगा कि तूने मेरा लड्डू खा लिया, तो वह भोजन को अपना कहता है।

'वसनं मे' कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो वस्त्रों को अपना कहते हैं। मैंने अपना नाप देकर सिलवाये हैं ये मेरे वस्त्र हैं। या ये मैं ही पहनता हूँ, और कोई इसे ना पहने ये मेरे हैं। यहाँ तक कि यदि कोई आभूषण जिसे वह पहनता था, उसे उसने बेच भी दिया, उसका पैसा भी ले लिया, तब भी दूसरों से कहता है ये जो रखा है वह मेरा है उसमें अभी भी ममत्व भाव लगा हुआ है। गाड़ी बुक करायी, खरीदी नहीं किन्तु तब से ही कहना प्रारंभ कर दिया मेरी गाड़ी। या बेच दी तब भी ये मेरी ही तो गाड़ी है। ये नहीं कि मेरी थी, मेरी है कहता है। वस्त्र, आभूषण, वाहन, नौकर-चाकर-स्त्री-पुत्र-मित्र-धन-सम्पत्ति सभी को अपना कहता है ये भी मेरा है, वह भी मेरा है। दूसरे का होगा तब भी ये नहीं कहेगा ये मेरा नहीं है।

जहाँ-जहाँ ममत्व भाव है वहाँ-वहाँ अपनी सीमा निश्चित कर ली। जो वस्तु नष्ट हो गयी उसे भी अपना कह रहा है। व्यक्ति पर्यायों में इतना मूढ़ हो जाता है कि द्रव्य को भूल ही जाता है। वह ये नहीं समझता कि वास्तव में ये पर्याय हैं, शाश्वत नहीं हैं, पर्याय कभी किसी की रहती नहीं नष्ट होने वाली हैं। 'पज्जयमूढा परसमया' जो पर्यायों में मूढ़ बुद्धि है वह

पर समय है वह स्वसमय से बाहर है आत्मकल्याण के पथ से विमुख है। जो पर्यायों में लीन हो गया, द्रव्य को नहीं जानता है, गुण को नहीं जानता है वह व्यक्ति पर्यायों में मूढ़ बुद्धि रखता हुआ नि:संदेह आत्मकल्याण के पथ से विचलित है और यह प्रवृत्ति उसकी दो चार दिन नहीं चलती, आश्चर्य तो इस बात का है जब से बालक ने जन्म लिया तब से ही उसे कोई वस्तु दिखाई दी तो वह उसे पकड़ना चाहता है। तब से उसके मन में मेरेपन का भाव आ गया। उसके संस्कार भी वैसे हो जाते हैं।

एक सुप्रसिद्ध चोर था, उसकी शादी एक ऐसी कन्या के साथ हुयी जिसके माता-पिता चोर थे, वह कन्या भी कुख्यात चोर ही बन गयी। कन्या ने उस चोर को पति के रूप में स्वीकार करने में आना-कानी नहीं की, और चोर ने भी चोरनी को पत्नी रूप स्वीकारने में मना नहीं किया। दोनों की शादी हुयी, दोनों चोरी करते किंतु कभी पकड़े नहीं गये। समय बीता, चोरनी गर्भवती हुयी, नव माह पश्चात् ऑपरेशन द्वारा एक बच्चे का जन्म हुआ। जिस नर्स ने प्रसूती का कार्य कराया तब उसने प्रसूती के दौरान अपनी हीरे की अँगूठी वहीं उतार कर रख दी, ऑपरेशन के पश्चात् जब सारा सामान व्यवस्थित किया, तो देखा उसकी अँगूठी वहाँ नहीं है। नर्स ने उस चोरनी (जच्चा) से पूछा-मेरी यहाँ अँगूठी देखी क्या, वह बोली नहीं, उसने अपने साथ के साथियों से पूछा- वे भी बोले हमने नहीं देखी, अब तो बड़ा मुश्किल हो गया। उस चोरनी ने कहा- हम चोर अवश्य हैं पर अँगूठी हमने नहीं ली। किन्तु एक मिनट ठहर जाओ, पूछा क्यों? वह बोली कहीं ऐसा न हो अँगूठी मेरे इस नवजात बेटे के हाथ में हो। और देखा तो सच में ही अँगूठी उसकी मुट्ठी में

बंद थी। उस बालक ने माता-पिता के संस्कारवशात् अँगूठी हाथ में दबा ली।

महानुभाव! उस बालक में तब से ममत्व का भाव आ गया, अपनेपन का भाव आ गया, वह वस्तु देख ली तो अब मेरी हो गयी। यहाँ तक कि पूर्व में राजकुमार कहते थे, ये कन्या मैंने पहले देख ली तो मेरी हो गयी, शिकारी कहता है यह शिकार पहले मैंने देखा तो पहले मेरा होगा। तो मेरेपन का संस्कार वहाँ से जाग्रत हो जाता है और कहाँ तक चलता है, जब वृद्ध भी हो जाता है, मृत्यु की बेला आ गयी, अन्तिम श्वाँस गिन रहा है, तब तक उसका मेरापन छूटता नहीं। मेरापन छूटता नहीं और जिसे अपना (मेरा) कह रहा है वह साथ जाता नहीं। सभी वस्तुयें छूट जाती हैं पर मेरापन नहीं छूट पाता। आचार्य महोदय कहते हैं- यह मेरापन ही संसार का कारण है। अहमिदं और ममेदं बुद्धि ही संसार का कारण है। 'मैं ऐसा हूँ' अपनी पर्याय पर घमण्ड करना यह भी संसार का कारण है और ये मेरा-ये मेरा यह भी संसार का कारण है। व्यक्ति आँख बंद कर लेता है किन्तु मेरा-मेरा छोड़ नहीं पाता।

आचार्य महोदय समझा रहे हैं- काल रूपी भेड़िया आकर के पुरुष रूपी बकरे को मार देता है। काल नहीं देखता कि इसकी आयु कितनी है। वर्षभर है या पाँच-दस-बीस अथवा सौ वर्ष। वह व्यक्ति तो बस मेरे-मेरे में लगा रहता है, और तो और ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अपने ममत्व का विस्तार करता चला जाता है। वह ममत्व का विस्तार ही संसार का विस्तार है। अहं बुद्धि का विस्तार ही संसार का विस्तार है। दु:ख-क्लांति- अशांति का विस्तार है। किन्तु जो व्यक्ति इस

बात को नहीं जानते हैं वे ही ममत्व का विस्तार करते हैं। बाल्यअवस्था में आपका 'मैं' बहुत छोटा था, बालक को कोई चीज मिली तो स्वयं के लिये, ज्यादा मिली तो माँ के लिये थोड़ी और ज्यादा मिली तो पिता व भाई के लिये फिर ज्यों-ज्यों बड़ा होता चला जाता है, त्यों-त्यों विस्तार करता चला जाता है। अपने मित्रों के लिये, परिवार के लिये, अपने अड़ौसी-पड़ौसी के लिये पुन: बढ़ता चला जाता है तो अपने ग्राम-समाज की चिंता करता है, जिले के प्रति, प्रांत के प्रति, देश के प्रति, सभी के प्रति ममत्व बढ़ता चला जाता है। जिसका ममेदं भाव जितना बड़ा होता चला जाता है उतने उसके जाल बुनते चले जाते हैं, उसके बंधन और क्लिष्ट होते चले जाते हैं।

यहाँ आचार्य भगवन् कह रहे हैं- काल रूपी भेड़िया आये उससे पहले सावधान हो जाओ, इस मैं मैं की हठ को छोड़ दो।

काल सिंह ने मृग चेतन को, घेरा भव वन में।
नहीं बचावन हारा कोई, यूँ समझो मन में॥

जब काल रूपी शेर संसार रूपी जंगल में घेर लेता है, उस समय उस कालरूपी सिंह से बचाने वाला कोई भी पैदा नहीं होता। यदि वह अपनी रक्षा कर सकता है तो सिर्फ और सिर्फ देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य में।

देव धर्म गुरु शरण जगत में, और नहीं कोई।
भ्रम से फिरे भटकता चेतन, यूँ ही उमर खोई॥

महानुभाव! अपनी सुरक्षा करने के लिये धर्म का कवच धारण करें। अपनी सुरक्षा के लिये जिनेन्द्र प्रभु के सान्निध्य में पहुँच जायें तो वहाँ आत्मा का बोध हो जायेगा, फिर इस शरीर

के परित्याग का दु:ख नहीं होगा। अपनी सुरक्षा करना चाहता है तो निर्ग्रंथ मुनियों के सान्निध्य में पहुँच जाये वहाँ पहुँचकर के उसे दिव्य तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। संयम को स्वीकार करके अपनी आत्मा का हित कर सकता है। जिनवाणी का जब वह स्वाध्याय करने लग जायेगा तब उसे लगेगा अब मुझे कुछ नहीं चाहिये, जो मुझे चाहिये वह सब कुछ मेरे अंदर है। मेरी तो केवल आत्मा है बस वह अभी कर्मों के आवरण से ढकी हुयी है अब मुझे उस आवरण को अलग करते जाना है। जितने आवरण मैं अलग करता जाऊँगा उतनी मेरी आत्मा की निधि प्रकट होती चली जायेगी।

महानुभाव! मूँगफली-बादाम का ढेर लगा हो, कोई कहे ये तो मात्र छिलकों के ढेर दिख रहे हैं, मूँगफली-बादाम और कहीं से लाओ, तो उन्हें कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं, उनके आवरण को तोड़ो उनमें से ही मूँगफली का दाना, बादाम की गिरी निकल कर आ जायेगी। ऐसे ही हमारे शरीर का जो आवरण है और आत्मा पर कर्मों का जो आवरण है द्रव्य कर्म-भावकर्म-नोकर्म ये आवरण ज्यों-ज्यों हटते चले जायेंगे त्यों-त्यों हम अपनी आत्मा की निधि को प्राप्त कर लेंगे। किन्तु ये तभी संभव है जब हम मैं-मैं की रट छोड़ें। बकरी मैं-मैं करती है तो वह मृत्यु को प्राप्त होती है, अपनी खाल खिंचाती है।

बकरी मैं-मैं करत है, अपनी खाल खिंचाय।
मैना तू तू कहत है, मेवा मिश्री खाय॥

यदि जीवन में आप मैं-मैं करते जाओगे, मेरा-मेरा करते जाओगे तो उतने संकटों को, आपत्ति, विपत्तियों को स्वीकार

करना पड़ेगा, और ये कहोगे कि भैया! कुछ भी नहीं है, ये शरीर भी मेरा नहीं है, मेरी आत्मा है जो शाश्वत है, मेरी आत्मा में गुण-स्वभाव शाश्वत हैं और मेरा कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की प्रवृत्ति लेकर चलोगे तब नि:संदेह आपका कोई बालबाँका भी नहीं कर सकता।

आपका जो है, उसे आप भूल चुके हो, जो नहीं है उसे पकड़ कर बैठ गये हो। आचार्य भगवन् अमृतचंद्र स्वामी जी ने समयसार की टीका में उदाहरण देते हुये समझाया कि एक व्यक्ति ने अपना वस्त्र धोबी को धुलवाने को दे दिया, संयोग की बात वह वस्त्र बदल गया, दूसरे के पास पहुँच गया। वह दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र को जल्दी में पहनकर किसी कार्य से बाजार में जा रहा था। सामने वाले व्यक्ति ने अपना वस्त्र पहचान लिया, और कहा-तुमने यह वस्त्र कैसे पहन लिया, यह तो मेरा है। वह दूसरा व्यक्ति भी कहता है नहीं-नहीं ये मेरा है, दोनों में बहस हो गयी। वहाँ बहुत सारे लोग एकत्रित हो गये। सामने वाले ने कहा यदि ये तेरा वस्त्र है तो निर्णय इसी तरह होगा कि पहचान बताओ। क्या पहचान है? पहने हुये व्यक्ति ने कहा ठीक है तो पहले तू अपनी पहचान बता? वह बोला मेरी पहचान ये है कि इस शर्ट के कॉलर में मेरी नाम की चिट लगी है मैंने इंग्लिश में नाम लिखकर चिट लगा दी थी, विश्वास न हो तो देख लो। कॉलर चेक किया तो शर्ट सामने वाले की ही निकल आयी। अब उसने अपनी शर्ट को उतरवा लिया। अब जो व्यक्ति शर्ट पहने हुये था, उसे भी उन वस्त्रों के प्रति राग नहीं रहा, उसने भी तत्काल उसे छोड़ दिया। तो ऐसे ही जब आत्मा को ये बोध हो जाये कि ये शरीर रूपी वस्त्र भी मेरा नहीं है, ये नोकर्म-

भावकर्म-द्रव्यकर्म का आवरण भी मेरा नहीं है, जो मेरा है वह मैं भूल चुका हूँ, वह तो मेरे अंदर है, वह मुझे प्राप्त करना है। तुम्हारी चीज तुम्हारे पास रखी है किन्तु हम अपनी चीजों को छोड़कर दूसरों की चीजों को अपना बनाने की सोचते हैं। यह प्रवृत्ति ठीक नहीं।

महानुभाव! यहाँ पर इतना ही समझना है कि आप मैं-मैं की रट छोड़ें। पुरुष रूपी बकरे को वह भेड़िया रूपी काल हड़प लेता है। इसलिये मृत्यु के आने से पूर्व मैं-मैं की रट को छोड़कर चिन्मय हो जाओ, चैतन्यमय हो जाओ, निजस्वभावमय हो जाओ जिससे आप जन्म-जरा-मृत्यु जैसे महान् दुःखों से दूर हो जाओ। आप अपने मोह को छोड़ें, रागद्वेष के बंधनों को तोड़ें, ममत्व भाव को छोड़ें, समत्व भाव को जाग्रत करें, इससे ही आपकी आत्मा का कल्याण संभव है, हम आपके लिये ऐसी भावना भाते हैं कि आपके जीवन में सुख-शांति की निरंतर वृद्धि हो इन्हीं शुभभावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

सच्चा गुरु कौन?

महानुभाव! जीवन में किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये, विशेष व्यक्ति की आवश्यकता होती है। सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये, विशेष की जरूरत नहीं, सामान्य से काम चल जाता है। जब भी किसी कार्य में विशेषता आती है, वह विशेषता, विशेष क्रिया-विधि, विशेष साधन सामग्री, विशेष निर्देशक एवं विशेष कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से आती है। जैसा रो-मैटिरियल होता है, उसी प्रकार के पदार्थों का निर्माण होता है। वस्तु का निर्माण यदि उच्च किस्म का हो जाये तो उसमें लगने वाली साधन-सामग्री भी अच्छी से अच्छी हो। यदि कोई महिला भोजन बनाती है आटा अच्छा नहीं है तो भोजन अच्छा नहीं बनेगा। किसान अच्छा बीज बोये तो फसल भी अच्छी आयेगी। ये निर्भर करता है हमारे रो-मैटिरियल पर।

महानुभाव! हमें जीवन में अपना हित करना है, सुख-शांति को प्राप्त करना है, तो सुख शांति के सूत्र एक छोटा बालक भी बता सकता है, और एक साधारण व्यक्ति भी बता सकता है और एक अनुभवशील व्यक्ति जिसने शांति का अनुभव किया है वह भी बता सकता है। सबके शब्द अलग-अलग भी हो सकते हैं और एक जैसे भी। यदि शब्द एक जैसे भी हैं तब भी भाव अलग-अलग हैं। जैसे दूध एक जैसा होते हुये भी दूध में शक्ति अलग-अलग होती है। एक बकरी का दूध है, एक गाय का है, एक भैंस का है, एक सिंहनी का दूध है, एक ऊँटनी का दूध है सबके दूधों में शक्ति अलग-अलग होती है। ऐसे ही शब्द एक जैसे होने के बावजूद भी उन शब्दों में जो भाव दिया है वह

अलग-अलग रहेगा। छोटे बालक के द्वारा शब्द वही कहे जाते हैं असर कम होगा, बड़े व्यक्ति द्वारा कहने पर थोड़ा ज्यादा असर होगा।

जिस तरह से यदि देश में किसी हित की बात लागू करनी हो, तो छोटा व्यक्ति कहता है तो कोई सुनता ही नहीं, कोई ऑफिसर कहता है तो दो-चार लोग सुनते हैं, कोई छोटा-मोटा नेता कहता है तो थोड़े ज्यादा व्यक्ति सुन लेते हैं और कोई प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति कहता है तो अधिकांश लोग स्वीकार कर लेते हैं।

ऐसे ही जब जीवन में गुरु का चुनाव करना होता है, तो गुरु वह होता है जिसमें गुरुता हो, जिसमें गुणों का समुद्र भरा हुआ हो, जिसमें गंभीरता हो, जिसमें ऐसी विशेषता हो जो किसी भी प्रकार की प्रतिकूलता से अपने भक्त या शिष्य को बचा सके। कुशल नाविक या तैराक ही अपनी नाव में बैठने वाले को पार लगा सकता है। कदाचित् यदि कभी तूफान भी आ जाये, नाव टूट भी जाये तो तैराकर, हाथ पकड़कर पार करा सकता है। यदि नाविक अनुभव हीन है तो स्वयं भी डूब जायेगा, दूसरों को भी डुबो देगा।

'गुरु' शब्द यूँ तो कोई भी अपना नाम रख सकता है। एक महात्मा मिला, उनसे पूछा- आपका क्या नाम है, वे कहने लगे हमारा नाम है 'जगत्गुरु'। क्या पूरा जगत् आपको गुरु मानता है? वह बोला नहीं। तो फिर? वह बोले मैंने एक चेला बनाया है जिसका नाम रखा है जगत्, मैं उसका गुरु हो गया तो नाम हुआ 'जगत्गुरु'। तो अब लोग मुझे जगत्गुरु कहते हैं। महानुभाव!

इस प्रकार नाम रखने से गुरुपना नहीं आता गुरु के लिये कुछ विशेषता होती हैं।

जब कोई व्यक्ति जॉब के लिये इन्टरव्यू देने जाता है या किसी संस्था में भी जो व्यक्ति सदस्य बनना चाहता है तो उसकी भी कुछ अर्हता होती हैं। स्कूल में प्रवेश पाना है तब भी कुछ योग्यता रखी जाती हैं जिनके आधार से उसका चयन किया जाता है। तो गुरु तो विश्व का सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति माना जाता है, उसके लिये भी तो कुछ योग्यता होंगी, हर एक को तो गुरु नहीं कहा जा सकता। शिष्य को तो फिर भी मान लिया जाता है कि कम योग्यतायें हैं तो चलो बाद में प्रकट हो जायेंगी किन्तु शिष्य भी बिना योग्यता के नहीं लिये जाते। तो फिर गुरु बिना योग्यता के जिसे चाहें उसे कैसे बना सकते हैं।

कई कॉलेज व स्कूल के नियम हैं कि जिनके 90% से ऊपर अंक होंगे उन्हें ही प्रवेश दिया जायेगा। इससे कम वालों का प्रवेश नहीं है। उनका यही कहना है हम ऐसे विद्यार्थियों को ही पढ़ायेंगे जो हमारे स्कूल का नाम रोशन कर दें, हम ऐसे विद्यार्थियों को नहीं पढ़ायेंगे जो हमारे स्कूल का रिजल्ट खराब करें। जब शिष्य के लिये, भक्त के लिये, विद्यार्थी के लिये, किसान के लिये, एक पथ पर चलने वाले राहगीर के लिये, यहाँ तक कि शिकार खेलने वाले शिकारी के लिये, सेवा करने वाले के लिये सबके लिये कोई न कोई नियम-कानून हैं, अर्हतायें हैं तब फिर क्या गुरु जैसे व्यक्ति के लिये कोई योग्यता नहीं होगी। प्रभु भी वही होता है जिसमें कुछ योग्यता हो, उसका भी मापक है निम्न-निम्न गुण पाये जायेंगे तभी वह परमात्मा कहा जा सकता है, ऐसे ही गुरु भी वही कहा जा सकता है जिसमें कुछ

गुण हों। वे गुण नहीं हैं तो प्रमाणिक व्यक्ति उन्हें गुरु नहीं कहते। गुरुओं में भी प्रमाणिकता होनी चाहिये जैसे अग्नि में अग्नित्व शक्ति है तो वह अग्नि है अन्यथा कोई अग्नि का चित्र बना दे तो उसे अग्नि नहीं कहेंगे।

गुरु चारित्र के होते हैं चित्र के नहीं। चित्र के गुरुओं की पूजा करने से कल्याण नहीं होता, चारित्र के गुरुओं की पूजा करने से कल्याण होता है। चारित्रवान् गुरुओं के चित्र भी हों तब भी सम्मानीय, पूजनीय हो सकते हैं और चरित्रविहीन गुरुओं की मूर्तियाँ भी हों, उनके कीर्तिस्तंभ बनाकर भी खड़े किये जायें तब भी उनसे कोई लाभ होने वाला नहीं है। चारित्रवान् का तो नाम ही पर्याप्त है, उसकी छवि भी पर्याप्त है। गुरु की परिभाषा करते हुये आचार्य महोदय लिखते हैं-

रत्नत्रयविशुद्धः सन् पात्रस्नेहीपरार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि, भवाब्धेस्तारको गुरुः॥

आचार्य भगवन् अजितसेन सूरि जो बहुत बड़े आध्यात्मिक संत हुये वे अपने छत्रचूड़ामणि नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि गुरु की विशेषता यह है- जो रत्नत्रय से युक्त हो, जिसकी श्रद्धा धर्म के प्रति, धर्मात्मा के प्रति, अपने कर्त्तव्य के प्रति, प्रभु परमात्मा के प्रति अकाट्य हो। शास्त्र वाक्यों में प्रीति ऐसी अकाट्य हो जैसे तलवार की धार पर चढ़ा हुआ पानी। वह तलवार टूट सकती है पर झुक नहीं सकती, ऐसी अकाट्य श्रद्धा परमात्मा के संबंध में कि परमात्मा का स्वरूप यही है, सम्यक्ज्ञान, तत्त्वज्ञान का सही रूप यही है, धर्म का मार्ग यही है, सच्चे शास्त्रों की बातें यही हैं इस प्रकार सम्यक्त्व का धनी हो तो वह गुरु हो सकता

है, जिसे स्वयं ही श्रद्धा नहीं है वह दूसरों को धर्म के प्रति क्या श्रद्धावान् बनायेगा।

गुरु तत्त्वज्ञानी, सम्यक्ज्ञानी भी होना चाहिये क्योंकि जिसे विवेक नहीं, सम्यक्ज्ञान नहीं वह दूसरों की शंका का समाधान कैसे करेगा। जो स्वयं ही शंका से युक्त है, संदेह में पड़ा हुआ है वह किसी का कैसे समाधान करेगा। जो व्यक्ति स्वयं डूब रहा है वह दूसरों को पार कैसे लगायेगा, जो स्वयं दलदल में फँसा है वह दूसरों को कैसे निकालेगा, नहीं निकाल सकता। वह तत्त्वज्ञानी होना चाहिये और क्रिया में निष्णात होना चाहिये। क्रिया-चर्या का नाम ही धर्म है। यदि वह केवल उपदेश देता है किन्तु स्वयं कुछ करता नहीं वह कहता है मेरे बसकी नहीं है क्रिया-चर्या करना, तो वह गुरु बनने के लायक भी नहीं है। यदि स्वयं की क्रिया यथार्थ है जिस क्रिया को देखकर स्वयं आत्मा में आनंद का अनुभव हो रहा है और वास्तव में गुरुता का अनुभव हो रहा है तो पुनः उसकी क्रियाचर्या को देखकर के सामने वाले व्यक्ति आपके बिना उपदेश के ही प्रभावित हो जायेंगे।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में लिखा है **"मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं"** सच्चा गुरु अपने मुख से कुछ बोले बिना ही अपनी क्रियाचर्या से संसारी प्राणियों को सही राह दिखा देता है। वह बता देता है कि मोक्षमार्ग क्या है, कल्याण का मार्ग क्या है। वचनों से कहने पर भी जिसकी बात का असर न हो तो गुरु की गुरुता में कुछ कमी रह गयी है। कई बार वे व्यक्ति जो मौन रहते हैं उनका अनुसरण करने वाले बहुत बनते चले जाते हैं।

तो गुरु वह हैं जो रत्नत्रय से विशुद्ध हैं जिनका सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र दृढ़ है। अर्थात् जिनकी श्रद्धा समेरु सी दृढ़ है, ज्ञान अगाध है जिनकी गहराई कोई माप नहीं सकता और जिनका संयम बड़ा निर्मल है आइने की तरह निश्छल है। और तन पर ढाँकने के लिये एक धागा भी नहीं, शरीर में भी निर्ग्रंथपना और अन्तरंग में भी निर्ग्रंथपना है। **'पात्रस्नेहीपरार्थकृत्'**- जो गुरु होता है वह पात्रों से स्नेह करने वाला हो, जो पात्रों के प्रति स्नेह और वात्सल्य का भाव रखता है, जो कल्याण करने मे समर्थ हैं ऐसे भव्य जीवों के प्रति स्नेहभाव रखता है वह वास्तव में गुरु होता है और जो पात्रों में स्नेह नहीं रखता, जिनसे उनके स्वार्थ की सिद्धि हो रही है उनसे स्नेह रखता है तो ऐसे भी गुरु नहीं हो सकते जो परिग्रह की कीचड़ में धँसे पड़े हैं। सच्चा गुरु परार्थकृत हो, परोपकारी हो, स्वयं स्वार्थी न हो।

स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के दुःख समूह को हरते हैं।
रहे सदा सत्संग उन्हीं का, ध्यान उन्हीं का नित्य रहे,
उनही जैसी चर्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे॥

आगे कहा- **'परिपालितधर्मो हि'** धर्म का पालन स्वयं करने वाले हों, और दूसरों से कराने वाले भी हों। जो स्वयं धर्म का पालन नहीं करेंगे वह दूसरों को धर्म का पालन कैसे करायेंगे। केवल शब्दों के जमा खर्च से काम नहीं चलेगा। बातों के बादशाह बनने से गुरु नहीं बनते, गुरु बनने के लिये धर्म का पालन स्वयं करना होता है।

महानुभाव! वह गुरु **'भवाब्धेस्तारको'** संसार समुद्र से पार

कराने वाले होते हैं। जो संसार सागर में डुबाने वाला होता है, वह गुरु नहीं होता है। **"खुद डूबे पाहुने, ले डूबे यजमान"**। ऐसा नहीं हो जो स्वयं डूब रहे हैं और उनका आश्रय लेने वाले भी डूब जायें। गुरु शब्द ही अपने आप में कहता है जो अंधकार का नाश करने वाले हों, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के अंधकार को दूर करने वाले हों। 'गुरु' शब्द में चार अक्षर आते हैं। GURU.

'G' कहता है- उदारवादी हों, Great हों। उनमें उदारता व महानता होना चाहिये, जिसके अंदर Goodness अर्थात् अच्छाईयाँ हैं। वह God अर्थात भगवान् तक पहुँचने की Ist form गुरु ही हैं। 'U' कहता है Unique होना चाहिये। वे सामान्य नहीं असामान्य विशेष गुणों के धनी होने चाहिये। 'R' कहिये तो Responsible, Religious होने चाहियें। 'U' पुनः कहता है वे Universal हो। ऐसा नहीं चार व्यक्ति ही उनको व उनकी मानें। उनका कथन Universal Truth हो। तब तो वह वास्तव में 'GURU' गुरुता से युक्त होता है।

महानुभाव! ऐसे गुरु ही वास्तव में संसार सागर से पार करने वाले होते हैं। लकड़ी की नाव ही जलाशय को पार करा सकती है। पत्थर की नाव से नदी-समुद्र कभी पार नहीं होता। ऐसे ही जो गुरु हैं जिनकी परिभाषा आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने दी-

विषयाशा-वशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यान-तपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्यते॥

आचार्य शिवकोटि जी ने भी कहा जो विषयों से, कषायों से, पापों से रहित हैं वे गुरु ही वास्तव में प्रशंसनीय व कल्याण करने में समर्थ होते हैं। यहाँ भी यही कह रहे हैं- जो विषय

कषाय से रहित हों, पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त हों, ऐसा नहीं कि अपने व्रतों में शिथिल हों। जो व्रतों में निष्णात हों, आरंभ परिग्रह से रहित हों जिनके पास कोई व्यापार न हो, कोई परिग्रह रूपी आडम्बर नहीं हो और जो ज्ञान में, अपने स्वाध्याय में, तत्त्वचर्चा में संलग्न हों, अपने आत्मध्यान में लीन हों, जो तप अर्थात् इच्छानिरोध करने में संलग्न हों जो इस प्रकार की विशेषता से युक्त होते हैं वास्तव में वही गुरु सन्मार्ग दर्शक हो सकते हैं। वही गुरु अपने आश्रित को संसार सागर से पार करने में समर्थ होते हैं और वही गुरु आत्मा को परमात्मा बनाने में समर्थ होते हैं, ऐसे गुरुओं की शरण हम सभी को प्राप्त हो। हमें तो प्राप्त हुई ही है, आपको भी प्राप्त हो आप भी संसार सागर के पार पहुँचे, हम आपके प्रति ऐसी भावना भाते हैं कि आप सभी संसार के दुःखों से मुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आदर्श गृहस्थ कौन?

महानुभाव! जीवन मिलना इतना दुर्लभ नहीं है जितना दुर्लभ उस जीवन की दुर्लभता को समझना है। वस्तु प्राप्त हो सकती है, किन्तु वस्तु कितनी कठिनाई से प्राप्त हुयी है इस बात को समझना बड़ा कठिन है। व्यक्ति जीवन में बड़ी-बड़ी उपलब्धि प्राप्त करता है, किन्तु उस बड़ी उपलब्धि के बारे में वही जान सकता है जिसने उपलब्धि प्राप्त की। सामने वाला व्यक्ति केवल उपलब्धि को देखकर यह सोच ले कि ये तो सहज बात है, तो नहीं। जो चोटी पर पहुँचा है वह एक से लेकर अंतिम सीढ़ी तक चला है, बिना चले कोई पहुँचता नहीं और बिना जले कोई प्रकाशित नहीं होता। जो पहुँचा है वह चला है, जो प्रकाशमान हुआ है वह जला है और जो सभी प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में ढाल सकता है, समझो उसको किसी ने छला है।

महानुभाव! जीवन में कुछ ऐसी बातें होना जरूरी हैं जिससे हम केवल आकृति रूप न रहें, हम प्रकृति से भी बनें। जैसे- आप समझें कोई व्यक्ति आकृति से मनुष्य है, हो सकता है प्रकृति से वह शेर हो, प्रकृति से गीदड़ हो, बिलाव हो, श्वान हो, सर्प हो, बंदर हो, नेवला हो, मछली हो, मगरमच्छ हो। उस मनुष्य की प्रकृति कैसी है, जो प्रकृति से मनुष्य है वही मनुष्य है। आकृति से मनुष्य तो बहुत सारे होते हैं, आकृति कार्यकारी नहीं होती, कार्यकारी होती है उसकी गुणवत्ता, उसकी प्रकृति, उसका धर्म वह उसके अंदर है तब तो ठीक है। यदि कोई व्यक्ति अग्नि की आकृति सामने बनाकर रख दे, किन्तु उसमें अग्नि की प्रकृति नहीं है तो वह अग्नि किस काम की। कोई

व्यक्ति प्लास्टिक के फल लाकर रख दे, तो क्या उससे किसी का पेट भरेगा? कोई व्यक्ति नदी का चित्र बना दे तो क्या उससे किसी का कंठ तर हो सकता है? नहीं हो सकता।

महानुभाव! इसी प्रकार संसार में आकृति से मनुष्य तो बहुत हैं, प्रकृति से मनुष्य बहुत कम हैं, जो प्रकृति से मनुष्य हैं वास्तव में वे ही अपने मनुष्य भव को सफल और सार्थक कर सकते हैं। आकृति मत देखो, एक पशु भी आकृति से पशु है किन्तु उसकी प्रकृति देव जैसी हो सकती है, उसके लिये कह देते हैं यह बहुत भद्र है, जो इसको चारा दे दो वही शांति से खा लेता है, कभी रस्सा नहीं तोड़ा, कभी मारने नहीं दौड़ा, बड़ी शांति से रहता है। पशु की आकृति है पर देव जैसा हो सकता है और एक मनुष्य है जो इतना क्रूर परिणामी है कि अपने रक्षक को ही मार दे, लोभ के वश किसी का घात कर दे, अहं की पुष्टि के लिये दूसरों का तिरस्कार कर दे, क्रोध में आ जाये तो सबको तहस-नहस कर दे, अच्छा-बुरा कुछ सोचे ही नहीं। तो ऐसे आकृति से मनुष्य होना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना महत्त्वपूर्ण है प्रकृति से मनुष्य होना।

जो आकृति के मनुष्य हैं हो सकता है प्रकृति से वे पशु तुल्य हों। हम और आप सभी अपनी-अपनी प्रकृति देखें। आत्मा की साक्षी में, प्रभु परमात्मा की साक्षी में, दूसरों की साक्षी में नहीं। स्वयं की साक्षी में देखने का प्रयास करें कि वास्तव में हम कौन हैं। तो प्रकृति से मनुष्य कौन होता है। आप अपनी समीक्षा स्वयं करें कि हमारे अंदर ये विशेषतायें हैं या नहीं। हैं तो आप आदर्श पुरुष हैं, आदर्श गृहस्थ हैं, आदर्श मानव हैं। ये विशेषतायें नहीं

हैं तो आपको बनने का प्रयास करना चाहिये, वैसा होना चाहिये। आदर्श पुरुष के लिये आचार्यों ने एक कारिका लिखी है-

"येषां न पूजा जिनपुंगवस्य, न दानशीलं न तपो जपश्च।
न धर्मसारं गुरुसेवनं च, गेहे यथैते वृषभाश्चरन्ति।।सु.र.-200

मनु की संतान तो वो है जो अपने आदर्शों की पूजा करे, उनके रास्ते पर चले, तब तो वह मनुष्य है जो पूजा नहीं करता, अपने उद्देश्य को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, उसी उद्देश्य को यदि आप प्राप्त करना चाहते हो और उसकी पूजा नहीं करते हो तो तुम राह से भटके हुये एक पथिक हो। तुम्हें अभी सम्यक् राह मिली नहीं।

जो जिनपुंगव हैं जिनेन्द्र भगवान् में श्रेष्ठ हैं, जो तीर्थंकर हैं जिनके पाँच, चार, तीन या दो कल्याणक हो गये, जिनके माध्यम से अनेको भव्य जीवों ने अपना कल्याण कर लिया, जो धर्म के प्रवर्तक रहे। जैसे समुद्र में चलने वाला जहाज हो, जिसमें हजारों व्यक्ति बैठे हों, उस जहाज को चलाने वाला, नेतृत्व करने वाला, उस जहाज की सभी अच्छाई व कमियों को जानने वाला, किसी भी प्रतिकूलता में जहाज को कैसे पार ले जायें इस प्रकार का जिसे ज्ञान है, अनुभव है ऐसा व्यक्ति ही लीडर होता है। ऐसे ही तीर्थंकर आत्मकल्याण के मार्ग के नेता होते हैं। जो परमात्मा बनाने की फैक्ट्री के बॉस हैं, ऐसे भगवान् की जो पूजा करता है, क्योंकि जो जिसके गुण चाहेगा उसकी पूजा करेगा। कौवे को नीम चाहिये तो निबौली खायेगा नीम की प्रशंसा करेगा और कोयल को आम्र चाहिये तो वह आम की प्रशंसा करेगी।

जो जाको गुण जानहि, सो तेहि आदर देत।
कोयल अम्बुज लेत है, काक निबोली हेत॥

जो जिनेन्द्र भगवान् के गुणों को प्राप्त करना चाहता है तो उनकी पूजा, अर्चना, भक्ति, वंदना करता है। जो नहीं करता है वह व्यक्ति आदर्श मनुष्य नहीं है और जो सत्पात्रों को दान नहीं देता, पशु की तरह से जो कुछ मिला सब खा जाता है, अरे! सच्चा इंसान तो वह है जो दूसरों को खिलाकर के खाये, जो दान दे। यदि आपकी थाली में बस आपके पेट भरने के लायक ही है तब भी उसमें से देने की भावना रखो। वह नहीं दे सकते तो किसी प्यासे को पानी पिला दो। वह भी नहीं दे सकते तो तुम्हारे पास यदि ज्ञान है तो शब्द ज्ञान से उसका मार्ग प्रशस्त करो, वह भी नहीं दे सकते तो सभी तीन लोक के प्राणियों को अभय दान दे दो, मैं किसी का जीव घात नहीं करूँगा। जो दान से रहित है तो समझो वह आदर्श मनुष्य नहीं हो सकता।

अगली विशेषता कही 'शीलं'। वह शील धर्म का पालन करने वाला हो। वह स्वभाव की ओर गतिशील हो, वह ब्रह्मचर्य की ओर गतिशील हो। शील का आशय है अपनी मर्यादा में रहना। यदि गृहस्थ जीवन में रह रहा है तो अपनी दारा (पत्नी) में संतुष्ट हो, दूसरों को देखकर मन खराब न करे। **'माता बहिन सुता पहिचानो'** अपनी स्त्री के अलावा सबको यथायोग्य अपनी उम्र से बड़ी हैं तो माँ के समान, बराबर है तो बहिन के समान, छोटी है तो पुत्री के समान माने। यह विवेक सद्गृहस्थ के जीवन में होता है। जिसके पास शील भी नहीं है, दान भी नहीं है, भगवान् की पूजा भक्ति भी नहीं करता और तपस्या भी नहीं करता वह बेलगाम आकांक्षाओं के जाल में फँसा है, आकांक्षाओं

का जंगल इतना घना है कि उससे निकल ही नहीं पा रहा। एक नहीं सैंकड़ों पगडंडी निकल रही हैं इच्छाओं के जंगल में वह भटक गया है, कैसे उसे सही रास्ता मिले, तो तप करने वाला व्यक्ति इच्छाओं को नियंत्रित करता है वह अपनी इच्छाओं को निरंतर कम करता जाता है। और 'जपस्य' जाप का अर्थ है-

जकारो जन्मविच्छेदः पकारो पापनाशनम्।

जप में दो अक्षर हैं 'ज' कार कह रहा है यदि जाप करते रहोगे तो जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाओगे 'प' कार कह रहा है कि यदि प्रभु-परमात्मा की जाप लगाते रहे, पंचपरमेष्ठी की जाप करते रहे तो पाँच पापों को आप नाश कर दोगे और आप भी पंच परमेष्ठी बन जाओगे। किन्तु जो व्यक्ति जिनेन्द्र भगवान् की पूजा नहीं करता, और कभी दान नहीं देता, शीलव्रत का पालन नहीं करता, कभी तपस्या नहीं करता, कोई उपवास, अनशन, नीरसादि तप नहीं करता और न प्रभु परमात्मा के नाम की जाप करता, कहते हैं-

'प्रभु जी के नाम की, सुबह और शाम की, फेरो दो माला'।

सद्गृहस्थों को दिन भर में कम से कम एक सुबह एक शाम को ऐसे दो माला फेरनी चाहिये। किन्तु जो व्यक्ति जाप भी नहीं लगाता और **'न धर्मसारं गुरु सेवनं च'** धर्म का सार है 'आचरण' ऐसा सद् आचरण भी नहीं करता वह कदाचारी है, उसके खान-पान में अशुद्धि है, भक्ष्य-अभक्ष्य सब खा लेता है। स्वाद के लिये जिह्वा पर नियंत्रण नहीं, जो अपने शरीर के पोषण के लिये दिन रात जी रहा है, जो कुछ भी हो सब खा रहा है और 'न गुरुसेवनं च' जो कभी भी गुरुओं की सेवा नहीं करता

उनके चरणों की रज अपने माथे से नहीं लगाता वह सबसे अलग रहता है, अपनी-अपनी चलाता है ऐसा व्यक्ति जो कहता है मैं धर्म नहीं करता, जो मन में आ जाये सो करता हूँ गुरु के पास जाता नहीं, उनकी मानता भी नहीं, कभी उनकी चरणरज अपने माथे से लगायी नहीं तो अब ऐसे व्यक्ति को कौन कहेगा कि ये आदर्श पुरुष है? कौन कहेगा कि ऐसा व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के लिये प्रेरणादायी है? कौन कहेगा कि हम इसके मार्ग पर चलें? सब कहेंगे भैया! तू तो दु:ख के रास्ते पर जा रहा है यदि मैं तेरे रास्ते पे चला गया तो मेरी हालत भी वही होगी जो तेरी हालत होने वाली है और फिर तेरी क्रियाचर्या में और पशु की क्रियाचर्या में क्या अंतर रह गया।

चार संज्ञाओं का पालन तो पशु भी करते हैं, भोजन करके तो वे भी पेट भरते हैं, अपने वंश की वृद्धि वे भी करते हैं, उन्हें भी डर लगता है यदि कोई उन्हें मारने आता है या कष्ट आता है तो परिग्रह का संचय वे भी करते हैं। यदि ये कार्य पशु कर रहा है और वही कार्य मनुष्य करने लगे तो फिर मनुष्य व पशु में अंतर रेखा कैसे डालें। मनुष्य इसलिये विशेष हैं क्योंकि जो बातें मनुष्य में पायी जाती हैं वह पशु में नहीं पायी जाती हैं। आकृति अलग हो, प्रकृति एक हो तो अंतर डालना मुश्किल है बस इतना कह सकते हो ये मनुष्याकार है यह तिर्यंचाकार। तो कोई कहेगा बन्दर भी तो मनुष्य जैसा होता है, वनमानुष होते हैं। तो ऐसी प्रवृत्ति करने वाले को आदर्श गृहस्थ नहीं कहते। अपितु जो इन पुण्य क्रियाओं में अनुरक्त हैं वे आदर्श गृहस्थ की श्रेणी में आते हैं। कहा भी है-

तथा गृहाश्रमस्थाश्च सम्यग्दर्शनपूर्वकम्
दानशीलोपवासार्हदादिपूजोपलक्षिता:॥317॥
आदिपुराण भाग-2 अध्याय 47

गृहस्थाश्रम में रहने वाले बुद्धिमान् पुरुष सम्यग्दर्शन पूर्वक दान, शील, उपवास तथा अरहन्त आदि परमेष्ठियों की पूजा करें।

आदर्श गृहस्थ शब्द सुनते ही पहला नाम मस्तिष्क में आता है तो वह है मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम का। जो वास्तव में आदर्श गृहस्थ रहे। उनका जीवन सभी संसारी प्राणियों के लिये आदर्श रूप है। श्रीराम ने अपने पिता की आज्ञा का पालन तो किया ही उसके अलावा आचार्य महाराज ने जो आदर्श गृहस्थ की पहचान बतायी है वह भी श्री राम में शब्दश: दिखाई देती है। नित्य ही जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन-पूजन कर वे अपने दिन का प्रारंभ करते थे। जब उन्होंने महल छोड़कर वन का मार्ग अपनाया तो प्रथम रात्रि देवाधिदेव श्री अरहनाथ भगवान् के मन्दिर में व्यतीत की उनकी पूजन-भक्ति करते हुये श्री राम, लक्ष्मण, सीता वहाँ ठहरे। जब श्रीराम वंशस्थल पर्वत (वंशगिरि) पर पहुँचे थे तब उन्होंने वहाँ अनेक मन्दिर बनवायें और उनमें जिनेन्द्र प्रभु की हजारों प्रतिमायें विराजमान करवायीं तथा भक्तिभाव पूर्वक पूजन की। यही पर्वत तब से रामगिरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दान की भावना राम के रग-रग में विद्यमान थी। वनवास के समय भी वे पहले मुनिराज के पड़गाहन के लिये खड़े होते यदि मुनिराज नहीं आते तब आहारचर्या का समय टालकर भोजन ग्रहण करते। और एक समय जब वे एक महावन में पहुँचे तब राम, सीता ने मिलकर आकाशमार्ग से पधारे हुये दो मुनिराज गुप्ति व

सुगुप्ति को नवधा भक्तिपूर्वक, दाता के सात गुणों को धारण कर आहार दान दिया और देवोकृत पञ्चाश्चर्य को प्राप्त किया।

शील का पालन करने में राम अग्रणी रहे। एक समय जब सौन्दर्य-लावण्य की प्रतिमूर्ति चन्द्रनखा ने राम से कहा कि मुझे अपना लें तब उन्होंने अपने शील धर्म का पालन किया उसकी बातों में, छलावे में नहीं फँसे तथा जब सीता को वन में छुड़वाया तब खुद भी अपना बिस्तर जमीन पर लगाकर एक योगी जैसा जीवन जिया। और हमेशा अपने से बड़ों को माता की दृष्टि से तथा छोटों को बहिन के रूप में देखा तथा स्वदार संतोष व्रत का पूर्णतः पालन किया। गुरु सेवा में भी हमेशा तत्पर रहे, जिस समय देशभूषण व कुलभूषण मुनिराज पर अग्निप्रभ देव द्वारा वंशस्थल पर्वत पर उपसर्ग किया गया तब राम व लक्ष्मण ने मिलकर उस उपसर्ग को दूर किया और तभी दोनों मुनिराजों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। महानुभाव! श्रीराम का जीवन अनेक संघर्षों से भरा रहा लेकिन उन्होंने अपने कर्त्तव्यों का पालन हर परिस्थिति में किया। कभी भी वे कर्त्तव्यपालन से डिगे नहीं।

भरत चक्रवर्ती की जीवन झाँकी को देखें तो पायेंगे कि उनमें एक आदर्श गृहस्थ के सारे गुण विद्यमान थे। जिस समय उन्हें तीन सूचनायें एक साथ प्राप्त हुई पहली कि पूज्य पिताश्री को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, दूसरी अन्तःपुर में पुत्र का जन्म हुआ है, तथा तीसरी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है तब तीनों सूचनाओं को सुनकर भरत एक क्षण के लिये व्याकुल हो गये कि पुण्यतीर्थ भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति और सोचने लगे कि धर्म, अर्थ, काम इन तीन वर्ग का फल मुझे एक साथ प्राप्त

हुआ है, मैं पहले किसका उत्सव मनाऊँ। तब उन्होंने सर्वप्रथम जिनेन्द्र प्रभु के समवशरण में पूजा स्तुति की पश्चात् चक्ररत्न, पुत्र प्राप्ति का उत्सव किया।

महानुभाव! जिनेन्द्र प्रभु के प्रति भरत के मन में विशेष भक्ति थी। जब वे षट्खण्ड विजय के लिये गये तब भी प्रतिदिन उन्होंने सबसे पहले जिनपूजन की उसके पश्चात् ही अपनी यात्रा प्रारम्भ की। जब लवण समुद्र को जीतने के लिये प्रस्थान किया तब भी भरत ने पहले तीन उपवास किये फिर पंचपरमेष्ठी की आराधना की तब आगे बढ़े। आदिपुराण में जगह-जगह भरत की भक्ति प्रभु के गुणों के प्रति अनुराग का वर्णन मिलता है। जब उनके यहाँ किसी दिन मुनिराज नहीं आते थे तब उनका मन बहुत दुखी होता था कि मुझसे ज्यादा पापी कोई नहीं है आज मैंने मुनिराज को आहार नहीं दिया। भरत प्रतिदिन अपने यहाँ मुनिराजों का आहार कराते थे एक समय जब चन्द्रगति व आदित्यगति मुनिराज उनके महलों में आहारार्थ आये तब उन्होंने उनकी विशेषभक्ति की, वैयावृत्ति की तथा उन्हें दूर तक छोड़ने भी गये।

महाराज भरत शीलवान् भी थे उन्होंने कभी भी अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं किया। तथा जब भगवान् आदिनाथ को निर्वाण की प्राप्ति हुई तब भरत ने कैलाश पर्वत पर जाकर 14 दिन की महामह पूजन कराई। उन्होंने कैलाश पर्वत पर 72 जिन चैत्यालय बनवाये तथा बाद में दीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त किया।

पुण्यं जिनेन्द्र परिपूजन साध्यमाद्यं,
पुण्यं सुपात्रगत दान समुत्थमन्यत्।

पुण्यंव्रतानुचरणादुपवासयोगात्,
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम्॥219॥

आदिपुराण भाग-2, अध्याय 28

जिनेन्द्रभगवान् की पूजा करने से उत्पन्न होने वाला पहला पुण्य है, सुपात्र को दान देने से उत्पन्न हुआ दूसरा पुण्य है, व्रत पालन करने से उत्पन्न हुआ तीसरा पुण्य है, तथा उपवास करने से उत्पन्न हुआ चौथा पुण्य है इस प्रकार पुण्य की इच्छा करने वाले पुरुषों को ऊपर लिखे चार प्रकार के पुण्यों का संचय करना चाहिये।

जीवन में जब भी समय मिले अच्छा कार्य करो, गुणों को ग्रहण करो, आदर्श मार्ग पर चलो। बुराईयों से बचो, सहयोग की व उपकार की भावना रखो। सबके प्रति मैत्री का भाव रखो, दीन दु:खी के प्रति करुणा का भाव रखो, गुणीजनों से, धर्मात्माजनों से मिलकर खिल जाओ और जो व्यक्ति तुमसे प्रतिकूल हैं, विरोधी हैं उन्हें देखकर मध्यस्थ हो जाओ मौन धारण कर लो। जो तुम्हें पाप के लिये प्रेरित कर रहा है, कषाय के लिये प्रेरित कर रहा है, आपको बुरी आदतों की ओर लेकर जा रहा है, कुसंस्कार डाल रहा है उनसे बचो। उनसे जितनी दूर रहोगे उतनी आपकी सुरक्षा रहेगी। इसलिये कहा- **"गेहे यथैते वृषभाश्चरंति"** ऐसा पुरुष यदि घर में रहता है तो बैलों जैसा आचरण करता है। मनुष्य के आकार का बैल हो सकता है या कोई भी पशु हो सकता है। जिसकी प्रवृत्ति नकल करने की है तो उससे कह देते हैं यह तो नकलची बंदर है, जिसकी प्रवृत्ति क्रूर है तो कह देते हैं यह तो सिंह जैसा है, जिसकी प्रवृत्ति डसने जैसी है तो बिच्छू

कह देते हैं, कोई छली है तो बिल्ली जैसा, कोई मूर्खता का काम करता है तो भेड़िया जैसा या मूर्ख है तो गधा जैसा, आलसी है तो अजगर जैसा। ऐसे पशुओं जैसा आचरण मनुष्यों को नहीं करना चाहिये।

महानुभाव! उत्तम पुरुषों जैसा आचरण करना चाहिये और महापुरुषों जैसा आचरण करने की भावना भानी चाहिये, तभी आप आदर्श गृहस्थ कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। आप भी आदर्श गृहस्थ बनें, अच्छे मानव बनें, हम आपके प्रति ऐसी भावना भाते हैं, इन्हीं भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

जिन बिम्ब स्थापना

महानुभाव! हमारा और आपका जीवन बहुत कुछ निमित्तों के आधार से परिवर्तनशील होता है। कई बार निमित्त का प्रभाव ज्यादा देखा जाता है, कई बार कम। जो उत्कृष्ट प्रकृति के व्यक्ति हैं उनके ऊपर निमित्तों का प्रभाव कम पड़ता है जो अत्यन्त जघन्य प्रकृति के व्यक्ति हैं उन पर भी निमित्तों का प्रभाव कम देखा जाता है। किन्तु मध्यम प्रकृति के व्यक्तियों पर निमित्त का प्रभाव प्रायःकर ज्यादा देखा जाता है। जैसा कि आप जानते हैं कि चंदन की लकड़ी पर यदि सर्प लिपट जायें तो चंदन विषाक्त नहीं होता, ऐसे ही ईख के खेत में एरण्ड का वृक्ष पैदा हो जाये तो उसमें मिठास नहीं आ जाती। इसके संबंध में कहा गया है-

जो रहीम उत्तम प्रकृति, काह कर सकत कुसंग।
चंदन विष व्यापे नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥
सेंठा उपजो ईख में, नेक न लागो रंग।
तुलसी ऐसे शठन को, काह करे सत्संग॥

जो अति दुष्ट प्रकृति के लोग हैं उन पर सत्संग का असर नहीं होता, जो अत्यंत शिष्ट प्रकृति के उत्तम जाति व किस्म के लोग हैं उन पर भी दुष्टों का प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु मध्यम प्रभाव वाले प्राणियों पर तत्कालीन द्रव्यों का प्रभाव पड़ता है। वे उनसे अछूते नहीं रह पाते, उनके जीवन में प्रभाव देखने में आता है। जैसे जल में जैसा रंग डाल दो, वैसा उसका रंग हो जाता है। वह रंग यदि किसी काले वस्त्र पर डाल दो तो उस पर उस रंग का असर नहीं होता। और ऐसे ही उत्कृष्ट वस्तु रत्न पर रंग

डाल दो तो वे भी रंगीन नहीं होते। उत्तम पुरुष रत्न की तरह से होते हैं और जघन्य पुरुष श्याम वस्त्र की तरह से।

महानुभाव! मानव के जीवन में जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं सच्चे देव का निमित्त, सच्चे शास्त्र का निमित्त, सच्चे गुरुओं का निमित्त, भगवान् की मूर्ति का निमित्त, अच्छे व्यक्तियों का निमित्त जिससे उसके परिणाम अच्छे-अच्छे होने लगते हैं। जब कोई व्यक्ति अच्छे-अच्छे कार्यों को देखता है तो उसकी भावना अच्छी-अच्छी बनने लगती है। कोई व्यक्ति विशेष दान दे रहा हो, महार्चना-विधान करा रहा हो, कोई बहुत व्रत-उपवास कर रहा हो, तपस्या कर रहा हो, परोपकार कर रहा हो तो उसे देखकर के सामने वाले व्यक्ति के चित्त में भी उसी प्रकार के अच्छे भाव आने लगते हैं। और जो मध्यम से थोड़ी नीचे श्रेणी वाला व्यक्ति है उसके जीवन में निम्न कोटि के विचार व निमित्तों को देखकर के निम्न विचार आते हैं। विषय वासना से युक्त व्यक्ति किसी को विषयभोग भोगते हुये देखता है तो उसके उस रूप परिणाम होते हैं, या किसी को छल-कपट-चोरी करते देखता है तो उसके मन में भी उसी अनुरूप भाव आता है। जो मध्यम से निम्नकोटि के लोग हैं उन पर अनुचित प्रभाव, दूषित प्रभाव या बुरा प्रभाव जल्दी पड़ता है। जो मध्यम से उच्च कोटि के हैं उन पर अच्छा प्रभाव जल्दी पड़ता है। किन्तु जो बिल्कुल टॉप पर हैं अत्यंत उत्कृष्ट प्रकृति के हैं उन पर सामान्य प्रभाव नहीं पड़ता, तथा जो अत्यंत निकृष्ट हैं उन पर भी ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता।

मध्यम में आने वालों की संख्या सर्वाधिक होती है, टॉप पर पहुँचने वालों की संख्या न्यूनतम होती है और बॉटम पर रहने

वालों की संख्या भी न्यूनतम होती है। आचार्यों ने लिखा है यदि कोई पुण्य का छोटा सा कार्य भी करता है चाहे सेवा करता है, दान देता है, पूजा करता है, तीर्थयात्रा करता है या व्रत-उपवास करता है तब भी बहुत बड़ा पुण्य उसे मिलता है किन्तु आचार्यों ने कहा इससे ज्यादा पुण्य के कार्य और भी हैं जिससे वह न केवल स्वयं पुण्य का उपार्जन करता है वरन् अन्य हजारों करोड़ों लोगों के लिये पुण्य का निमित्त बन जाता है। तो आचार्यों ने लिखा है-

अंगुष्ठमात्रं जिनदेवबिम्बं करोति यो नित्य समर्चनीयं।
अनेकजीवार्जन-पुण्यहेतुं, महत्सुपुण्यं लभते स नित्यं॥

आचार्य महोदय लिखते हैं- 'अंगुष्ठमात्रं जिनदेवबिंबं' कोई अंगुष्ठ मात्र भी जिनदेव के बिम्ब की प्रतिष्ठा कराता है, कहीं कहीं दिया कि राई के बराबर भी जिनबिंब बनवाता है, कहीं दिया धनिये के पत्ते के बराबर मंदिर बनवाता है, कही दिया बिम्ब फल के बराबर बनवाता है तो वह व्यक्ति सात या आठ भव में मोक्ष पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। यहाँ कह रहे हैं जो अंगुष्ठ मात्र प्रमाण जिनबिंब बनाकर के स्थापना करता है और नित्य उनकी पूजार्चना करता है वह अनेक जीवों के लिये पुण्यार्जन कराने वाला हेतु होता है। अनेक जीव जिनबिम्ब के निमित्त से उस परमात्मा की मूर्ति के निमित्त से पुण्य उपार्जन करते हैं। किसी ने अरिहंत प्रभु की, तीर्थंकरों की मूर्ति चाहे पाषाण की बनायी या धातु की बनायी, चाहे रत्नों की बनायी जब बनाकर वेदी पर स्थापित की तो हजारों व्यक्तियों के परिणाम निर्मल हुये, सैकड़ों व्यक्तियों की भावना बदली, लाखों व्यक्ति उसकी अनुमोदना करने आये। क्रम से जब तक वह बिम्ब रहेगा तब

तक करोड़ों व्यक्ति उसके माध्यम से पुण्य का अर्जन कर सकते हैं। जब पुण्य का उदय आता है तो पाप का द्वार बंद हो जाता है। सहजता में ही पाप का संवर हुआ पुण्य का आश्रव हुआ। पुण्य का कार्य करने वाला व्यक्ति एक है किन्तु उसके कार्य को निमित्त बनाकर अनेकों व्यक्ति पुण्य का अर्जन कर सकते हैं।

कुछ जीव ऐसे होते हैं जिनमें पाप का कार्य करने वाला एक जीव होता है किन्तु उसके कृत्य से अनेक जीव उस पाप कार्य को अपना निमित्त बना लेते हैं। यहाँ पर पुण्य का निमित्त बनाने की बात कही है कि उनके द्वारा संपादित पुण्य कार्य वह जिनबिंब की स्थापना अनेक जीवों के लिये पुण्य का हेतु है। वे पुण्यात्मा महानुभाव जिन्होंने ऐसे कार्य किये हैं वे अधिक भव तक संसार में नहीं रह सकते। या तो उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं या तृतीय भव से मोक्ष जा सकते हैं अथवा एक दो भव इससे ज्यादा।

भरत चक्रवर्ती, श्रीरामचंद्र जी इत्यादि महापुरुषों ने जिनेन्द्र भगवान् की मूर्तियों की स्थापना करवायी। रामगिरि में जिनमंदिर बनवाये, कैलाश पर्वत पर भरत चक्रवर्ती ने त्रिकाल चौबीसी के 72 जिनालय बनवाये उस पुण्य के प्रभाव से उन्हें उसी भव में यथाजात् दीक्षा प्राप्त हुयी। तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त हुये। पद्मपुराण में लिखा है विभीषण के महल के चैत्यालय में पद्मरागमणि की पद्मप्रभु की प्रतिमा स्थापित थी, रावण के महल में भी शांतिनाथ भगवान् का जिनालय था।

महानुभाव! जो जिनबिम्ब स्थापित कराता है उसके जीवन में इतने पुण्य का संचय हो जाता है कि उसके द्वारा जितने व्यक्ति दर्शन-पूजन कर पुण्य कमाते हैं संभव है उन सभी का 1/6 हिस्सा उस व्यक्ति के खाते में चला जाता है अर्थात् निमित्त के लिये

17% महत्त्व दिया जा सकता है। उपादान के लिये शेष महत्त्व लगभग 83-84% के आस-पास। आचार्यों ने कहा- 'महत्सुपुण्यं लभते स नित्यं' वह नित्य ही महान सुख को प्राप्त करता है जो केवल जिनबिंब की स्थापना मात्र नहीं करता वरन् स्थापना के साथ-साथ जब तक जीवित रहता है तब तक उनकी पूजार्चना आदि करता है। यदि पूजार्चना नहीं करता और मात्र धन देकर कह देता है आप जिनबिंब बनवाओ, प्रतिष्ठा कराओ जो चाहो सो करते रहना तो इस प्रकार नहीं। उसके स्वयं की अंतरंग की श्रद्धा होनी चाहिये। उसके श्रद्धा के भगवान् होने चाहिये। उसके रोम-रोम से प्रभु परमात्मा के प्रति विश्वास का भाव होना चाहिये।

भगवान् चाहे सामने उपस्थित हों या नहीं हों, तब भी आँखों में अपने प्रभु की छवि रहनी चाहिये। ऐसा व्यक्ति पुण्य का उपार्जन करता है। जो अपने प्रभु की छवि को स्वयं में बसा लेते हैं वे कालांतर में, क्षेत्रांतर में जब-चाहे तब भगवान् का स्मरण कर लेते हैं। एक वृद्धा माँ जो चक्की चलाकर अपने जीवन का निर्वाह करती थी। एक घास-फूस की छोटी सी झोपड़ी में रहती और आटा पीसने पर जो थोड़ा आटा मिलता उससे अपना काम चलाती। एक दिन उसके मन में भावना आई कि मैं भी भगवान् की प्रतिमा रखवाऊँ, जिनबिंब स्थापित करवाऊँ। अब क्या था जो आटा उसे मिलता, उस थोड़े से आटे में से भी आटा बचाने लगी। एक समय का भोजन कम कर दिया और रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा आटा इकट्ठा करने लगी। शनैः-शनैः बूँद-बूँद से सागर भरने के समान महीनों पश्चात् वह वृद्धा वहाँ गई जहाँ मूर्तियाँ बनती थीं और सिर पर रखकर के अपने श्रद्धा के भगवान् ले आई।

एक दिन महारानी कर्णवती अपने महल में खड़ी झरोखे में से झाँक रही थी कि उसकी दृष्टि वृद्धा की झोपड़ी पर गई। कर्णवती को अपने महल के सामने वृद्धा की वह झोपड़ी भायी नहीं और सैनिकों को उसे उखाड़ने की आज्ञा दे दी, जहाँ वृद्धा के श्रद्धा के भगवान् विराजमान थे। जब सैनिक वृद्धा की झोपड़ी के समीप पहुँचे तब वृद्धा ने उनके आने का कारण पूछा तो उन्होंने कर्णवती की आज्ञा कह सुनायी। वृद्धा बोली जरा अपनी रानी से जाकर के पूछो कि जब मुझे उनका इतना बड़ा महल आँखों में नहीं चुभ रहा तो उन्हें मेरी यह छोटी सी झोपड़ी क्यों चुभ रही है।

समय का चक्र तो देखो कर्णवती के इतने बड़े महल का कुछ पता नहीं और वृद्धा ने जहाँ अपने श्रद्धा के भगवान् स्थापित कराये थे वह आज भी जबलपुर में मढ़िया जी के नाम से संपूर्ण भारतवर्ष में विख्यात है। रावण की सोने की लंका ज्ञात नहीं किंतु भरत चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये गए चैत्यालय आज भी कैलाश पर्वत पर विद्यमान हैं। आचार्य महोदय शिवकोटि स्वामी जी ने भी लिखा है-

येन श्रीमज्जिनेशस्य, चैत्यागार-मनिन्दितम्।
कारितं तेन भव्येन, स्थापितं जिनशासनम्॥

जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, घातिया कर्मों को जीत लिया ऐसे जिनेन्द्र प्रभु की मूर्ति जो कोई भी स्थापित करता है, तथा निर्दोष, लोकनिंद्य कार्यों से रहित, शुद्ध निर्मल भावों के द्वारा मंदिरों का निर्माण कराता है उस भव्य के द्वारा जिनशासन की स्थापना की गई है। ऐसे कई लोग हमसे कहते हैं, जो चाहते

हैं कि उन्हें कुछ पुण्य कार्य करने का अवसर मिले, पूर्व में अमुक महाराज ने उपदेश दिया, हमारी भावना बनी तब हमने जिनबिंब की स्थापना करायी थी, मंदिर बनवाया था। कितने बनवाये? महाराज जी! हम भूल गये, हम याद नहीं रखते, जितना पुण्य का कार्य हो जाये उतना अच्छा। जब हम पापों को याद नहीं रखते तो पुण्य के कार्य क्यों याद रखें। हम और हमारे भगवान् दोनों की एक सी आदत हो गयी है-

"हम भगवान् की मेहरबानी भूल जाते हैं और भगवान् हमारे गुनाह भूल जाता है।" इस भाव से हमारे मन में एक भाव जाग्रत हुआ है कि हम अपने गुनाह को याद रखने की कोशिश करेंगे, अच्छे कार्यों को भूलने की कोशिश करेंगे। अच्छे कार्य हमें याद नहीं करना है अपने अपराधों को, दोषों को व बुराईयों को याद रखना है जिससे उनसे विमुक्त हो सकें। ऐसे कई लोग हैं जिन्होंने जिनबिंब व जिनालयों की स्थापना की। दिल्ली के एक महानुभाव हैं जिन्होंने अपने शुद्ध न्यायोपार्जित धन के माध्यम से एक सौ ग्यारह जिनबिंब व जिनालयों की स्थापना की। एक महानुभाव ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने स्वकीय शुद्ध द्रव्य से सहस्रकूट व नंदीश्वर आदि जिनालयों की स्थापना की, वे लोगों से कहते हैं आपके तन व मन का सहयोग चाहिये आप सभी की शुद्ध भावनाओं द्वारा ही हम यह पुण्य कार्य सम्पन्न कर पा रहे हैं।

कई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो गुप्त रूप से पुण्य कार्य को करते हैं। क्योंकि वह व्यक्ति पुण्य को छिपाना चाहता है और जो छिपाकर कार्य करता है उसे कालान्तर में गुप्त खजाने मिलते हैं, अचानक ही जीवन में खुशी के समाचार मिलते हैं, अचानक

उन्हें पुण्य की राशि का फल प्राप्त होता है। जो मन में सोचें वह तुरंत ही प्राप्त हो जाता है और जो व्यक्ति कह देता है उसे पुण्य तो मिलता है किन्तु पुण्य का फल पाने की इंतजारी बहुत करनी पड़ती है।

आज भी कई व्यक्ति ऐसे हैं जो आकर कहते हैं महाराज जी! हमने जीवन में पाप के कार्य तो बहुत किये अब हम पुण्य कार्य करना चाहते हैं और जिनबिंब की स्थापना से बढ़कर के अन्य कोई पुण्य का कार्य दुनिया में देखने में नहीं आया, इसलिये जिनशासन में श्रीमत् जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव होते हैं उन्हें सबसे बड़ा महोत्सव विधान आदि माना जाता है। क्योंकि उनमें बिम्बों की प्रतिष्ठा होती है अन्य किसी में बिम्बों की प्रतिष्ठा नहीं होती है।

जो पुण्यात्मा जीव हैं वह अपने न्यायोपार्जित द्रव्य से चाहे अपने जीवन में एक छोटी सी मूर्ति की स्थापना करें, या अनेक करें पर भावना से करें। उनकी पूजार्चना भी करें। आप अपने ही हाथों से जहाँ आवश्यकता है वहाँ जिनबिंब की स्थापना करें, वह जिनालयों की स्थापना नि:संदेह सातिशय पुण्य का कारण है, ये पुण्य निमित्त आत्मा के हित में सर्वोत्कृष्ट निमित्त है। ऐसे निमित्तों को प्राप्त करके हम सभी अपनी आत्मा का कल्याण करें, संसार सागर से पार हों, दु:खों को नष्ट करके सुखों की राशि को प्राप्त करें। कर्मों के ईंधन की होली जैसी जला दें उस पुण्य के माध्यम से। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

मोक्ष का बीज

महानुभाव! संसार में जितने भी पदार्थ हैं, वे पदार्थ उन उन जीवों को प्राप्त हो जाते हैं जिन-जिनका जितना-जितना पुण्य-पाप का उदय है। जिसके पाप का उदय है उसे पाप के फल स्वरूप वह पदार्थ मिल जाता है, पुण्य का उदय है तो पुण्य स्वरूप फल मिल जाता है। जैसे कहा है-

सकल पदारथ हैं जग माँहीं, कर्महीन नर पावत नाँहीं।

संसार में सम्पूर्ण पदार्थ होते हुये भी जिसका जैसा भाग्य होता है, जैसा कर्म का उदय होता है उसे वैसा ही फल मिलता है। या यूँ कहें उद्यान में नाना प्रकार के वृक्ष लगे हैं, किन्तु जो जिसका वृक्ष है उस पर वैसा ही फल लगता है। उसी बाग में जामुन का पेड़ है, आम-अमरूद का पेड़ है, कोई बबूल का पेड़ है उन सब पर फल भी अलग-अलग प्रकार के लगते हैं। नीम पर आम का नहीं लगता, आम पर नीम का नहीं लगता। पुण्य का फल इष्ट वस्तु की संप्राप्ति है तो पाप का फल अनिष्ट वस्तु की संप्राप्ति है।

जैसा बीज वैसा फल। हम संसार में सुख चाहते हैं तो सुख का फल तब मिलेगा जब बीज सुख रूप हो। यदि हमने दुःख रूप बीज बो दिया है तो फल भी हमें दुःख रूप ही प्राप्त होंगे। संसार का बीज हमें संसार को देता है, मोक्ष का बीज हमें मोक्ष को देता है। संसार का बीज है राग-द्वेष, मिथ्यात्व, कषाय भाव, इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति, पाप रूप क्रियायें, अज्ञान, असंयम। इनके निमित्त से की गई प्रवृत्ति, कुधर्म रूप प्रवृत्ति, कुचारित्र रूप प्रवृत्ति अथवा मिथ्या श्रद्धान रूप प्रवृत्ति, मिथ्यागुरु, मिथ्याशास्त्र का

सेवन यह सब संसार का संवर्धन करने वाले हैं, पाप को बढ़ाने वाले हैं बहुत काल तक दुःख देने वाले हैं। आचार्य सकलकीर्ति जी महाराज ने सुभाषित रत्नावली नामक ग्रंथ में लिखा-

"दयासमो नास्त्यपरस्तु धर्मो, निर्दोष देवादपरोऽधि देवाः।
श्री निस्पृहसद्गुरुरेव नान्य, एतत्त्रयं त्वं भज मुक्तिबीजं॥342॥

आचार्य महोदय कह रहे हैं- मुक्ति का बीज क्या है? तो दयाधर्म, रागद्वेष दोषों से रहित वीतरागी देव और निर्ग्रंथ दिगम्बर संत इन तीनों के प्रति जो श्रद्धा का भाव आता है वह सम्यक् बन जाता है, इन तीनों के निमित्त से जो ज्ञान आता है वह ज्ञान तत्त्वज्ञान होता है और इन तीनों के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर जो गमन होता है, वह सम्यक् चारित्र कहलाता है।

पहला है दयाधर्म- दया के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अन्य कोई धर्म मानते हैं तो दया का पर्यायवाची तो हो सकता है किन्तु दया से विपरीत कोटि का नहीं हो सकता। जिसके चित्त में दया है वह अपने मारने वाले के प्रति भी रक्षा का भाव रखता है। जब चित्त में से दया निकल जाती है तब व्यक्ति अपनी रक्षा करने वाले को भी मार देता है। जब तक चित्त में अहिंसा है, दया है, करुणा है, अनुकम्पा है तब तक वह धर्म के साथ है।

एक बार शिप्रा नदी के किनारे एक मुनिराज पधारे। वहाँ एक मृगसेन नाम का धीवर भी पहुँचा, महाराज ने दया अहिंसा का उपदेश दिया। उपदेश सुनकर सभी भव्य जीवों ने कहा- महाराज श्री! हमें कुछ नियम दो जिससे हमारा भी कल्याण हो। महाराज ने सभी को यथायोग्य संयम की प्रेरणा दी, लोगों ने भी

नियम स्वीकार किये। वह मृगसेन धीवर भी पीछे बैठा हुआ था। सभी के जाने के उपरांत वह भी मुनिराज के पास गया, उससे भी मुनिराज ने कहा- आप भी दया धर्म का पालन करो, वह बोला- महाराज! मैं कैसे पालन कर सकता हूँ, मैं धीवर हूँ मछली पकड़कर मारकर खाना मेरा काम है, इसके बिना मैं जी नहीं सकूँगा। मुनिराज ने कहा- तुम पूरी अहिंसा का पालन नहीं कर सकते हो, तो कम से कम एक नियम तो ले ही सकते हो, वह बोला- क्या? मुनिराज ने पूछा- तुम पूरे दिन में कितनी मछली पकड़ते हो? वह बोला कभी 2-4 या कभी 10-20-50 भी हो जाती हैं यदि तुम इतनी में से एक भी छोड़ दो, उस एक पर दया कर दो तो? वह बोला- हाँ मैं ये तो कर सकता हूँ। मैं नियम लेता हूँ की मेरे जाल में जो भी पहली मछली आयेगी उसे मैं जीवनदान दूँगा।

वह मृगसेन जैसे ही नदी किनारे पहुँचा, अपना जाल डाला, पहली बार जीवन में इतनी बड़ी मछली फँसी थी, उसने सोचा मेरी परीक्षा तो पहले दिन ही हो गयी। किंतु मैं इस मछली को मारूँगा नहीं, अपना नियम नहीं तोडूँगा उसने उस मछली को जाल से निकाल दिया और अपनी पगड़ी का थोड़ा सा कपड़ा फाड़कर उसके गले में बाँध दिया, जिससे दुबारा ये ही मछली ना आ जाये, उस मछली को उसने जीवनदान दे दिया। अब धीवर बहुत दूर समुद्र के पास गया, वहाँ जाल डाला, ताकि वही मछली दुबारा न आ जाये, किंतु संयोग की बात वह मछली दुबारा आ गई, उसने सोचा इस मछली को तो मैं प्राणदान दे चुका हूँ, इसको मैं नहीं मारूँगा, तीसरी बार जाल डाला तो पुनः वही मछली आयी, चौथी बार डाला फिर वही मछली आयी, वह

बार-बार उसे जीवनदान देता गया ऐसा करते-करते पूरा दिन हो गया, वह जितनी बार भी जाल डालता, वही मछली उसके जाल में आती, और आखिर में उसे खाली हाथ ही घर आना पड़ा।

जब वह खाली हाथ घर पहुँचा उसकी पत्नी जयघंटा ने देखा कि मेरा पति आज कुछ लेकर नहीं आया, तो गुस्से में उसने घर के दरवाजे नहीं खोले। सर्दी का समय था, मृगसेन एक वृक्ष के नीचे सो गया रात्रि में वृक्ष की कोटर में से एक सर्प निकलकर आया और धीवर को डँस लिया जिससे वह मरण को प्राप्त हो गया। मृत्यु के बाद वह एक नगर सेठ का पुत्र हुआ। जयघंटा ने प्रातःकाल देखा कि मेरा पति मर गया, उसे बहुत दुःख हुआ। तब उसे लोगों से पता चला कि इन्होंने मुनिराज से दयाधर्म का नियम लिया था, जयघंटा ने कहा यही नियम मैं भी लेती हूँ और कालान्तर में मृत्यु को प्राप्त होकर वह भी निदान पूर्वक उसकी पत्नी बनती है।

उस सेठपुत्र (मृगसेन धीवर) को पाँच बार मारने का प्रयास किया गया। पहली बार जब उसका जन्म हुआ था तब उसके पिता नगर सेठ नहीं थे, नगर सेठ दूसरा था, तब मुनिराज से ज्ञात हुआ था कि ये पुत्र नगर सेठ होगा, उस नगर सेठ ने उसके पिता को व्यापार हेतु विदेश भिजवा दिया, और उसकी पत्नी से कह दिया आप हमारे यहाँ महलों में रहें आपकी रक्षा हम करेंगे। पुत्र का जन्म होते ही उस सेठ ने चाण्डालों को उसके पीछे लगाया किंतु चाण्डालों ने उसे मारा नहीं, सोचा इससे हमारा कोई बैर-भाव नहीं, उसे जंगल में छोड़कर आ गये। दूसरी बार जब जंगल में छुड़वाया तो वह शिला पर लेटा था, उस जंगल की गाय आयीं और अपने स्तन से उसे दूध पिलाने लगी, उसकी

प्राण रक्षा हुयी। तब उसका लालन-पालन एक गोविन्द नामक ग्वाले ने किया। तीसरी बार वह सेठ नगर के बाहर उसी गाँव में पहुँचा जहाँ वह पुत्र रहता था उस सेठ से उसे पहचान लिया था, और अपने पुत्र को पत्र लिख भेजा कि इस लड़के को जिसके हाथ मैं पत्र भेज रहा हूँ विष दे देना। वह लड़का जब उद्यान में विश्राम कर रहा था, तब वहाँ एक वेश्या आयी और उसने उसके गले में पत्र देखा, पत्र पढ़ा उसमें लिखा था इसे विष दे देना, उसने अपने आँख का काजल निकाला और 'विषा' कर दिया, इसे विषा दे देना। जब पत्र सेठ पुत्र के पास पहुँचा देखा विषा दे देना। विषा उसकी बहिन का नाम था, और पिता के वचनानुसार अपनी बहिन का विवाह उसके साथ कर दिया। इस तरह उसकी प्राणरक्षा हुयी। और चौथी बार सेठ ने कहा-दामाद जी! हमारे यहाँ एक रीति है जब तक देवी के मंदिर में श्रीफल अर्पित न किया जाये तब तक विवाह पूर्ण नहीं माना जाता, वह जब फल चढ़ाने गया, रास्ते में उसे अपना साला मिलता है, उसने पूछा- आप कहाँ जाते हो, उसने बताया विवाह की पूर्णता के लिये श्रीफल अर्पण करने जा रहा हूँ।

उसने कहा जीजा जी! आपने देवी का मंदिर नहीं देखा होगा, आप यह श्रीफल मुझे दे दो, और हाथ से फल लेकर स्वयं ही देवी के मंदिर चला गया। सेठ ने जो व्यक्ति मंदिर में अपने दामाद की हत्या हेतु लगाये थे, उन्होंने अंधकार में सेठ पुत्र का ही घात कर दिया। वह (धीवर) फिर से मृत्यु से बच गया। एक दिन सेठानी ने कहा मैं इसकी मृत्यु का इंतजाम करती हूँ और अपने पति व दामाद दोनों को भोजन पर बुलाया, बेटी को भी बुलाया और कहा-बेटी तुम अपने पति को ये शक्कर वाले लड्डू

दे देना और पिता को गुड़ वाले दे देना, और कहकर स्वयं नदी में स्नान करने चली गयी। बेटी ने सोचा- यदि मैं अपने पति को शक्कर के लड्डू दूँगी तो पिता जी सोचेंगे बेटी भेदभाव करती है, शादी को कुछ ही दिन हुये हैं, उस बेटी ने शक्कर वाले लड्डू जो देखने में स्वच्छ व सुंदर लग रहे थे वो पिता को परोस दिये, और जो गंदे से गुड़ वाले लड्डू दिख रहे थे अपने पति को परोस दिये। शक्कर वाले लड्डू खाकर पिता तो मृत्यु को प्राप्त हो गये पति की रक्षा फिर हो गयी।

माँ स्नान कर लौटी, देखा कि मैंने जिसके लिये जाल फैलाया वह तो बच गया, मेरा ही पति मर गया, उसने भी वही लड्डू खा लिये वह भी मृत्यु को प्राप्त हो गयी। अब वह बालक जिसे बार-बार मारने का प्रयास किया जा रहा था वह नगर सेठ बन गया। महानुभाव! एक मछली पर दया करने से वह मृगसेन धीवर अगले ही भव में सेठ पुत्र हो गया और पुनः दीक्षा लेकर के सुगति को प्राप्त हुआ।

ऐसे ही महाराज मेघरथ जिनकी दया-करुणा की परीक्षा लेने देव आये। एक देव ने बाज का रूप बनाया, एक ने कबूतर का। कबूतर महाराज की गोदी में गिर पड़ा मुझे बचाओ-मुझे बचाओ। बाज पीछे से आया, उस बाज ने कहा- यह मेरा शिकार है, इसे छोड़ो। महाराज ने कहा- नहीं ये मेरी शरण में आया है मैं तुम्हें इसे नहीं दे सकता। तुम्हें भोजन करना है तो तुम्हें शुद्ध शाकाहारी भोजन कराते हैं, बाज ने कहा नहीं मैं अपने शिकार का ही भक्षण करूँगा, राजा ने कहा- हम तुम्हें इसका माँस नहीं दे सकते, तब राजा ने अपनी जंघा का माँस काटकर उस कबूतर के बराबर तौलकर चढ़ाया, तब वह कबूतर अपना और वजन

बढ़ाता चला गया। वह देव जो बाज बना था, वह अपने असली रूप में आया, महाराज को प्रणाम किया, कहा- धन्य है आपका दया धर्म। आपने दया को नहीं छोड़ा आप स्वयं अपने शरीर को मुझे खिलाने को तैयार हो गये। वही मेघरथ राजा आगे चलकर 16वें तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ हुये। वे तीर्थंकर भी थे, कामदेव व चक्रवर्ती भी थे।

महानुभाव! दया धर्म का पालन एक हाथी ने किया, एक बार जंगल में आग लग गयी, तब सभी पशु नदी किनारे एक स्थान पर आकर खड़े हो गये। स्थान बहुत कम था, सभी जंगल के जानवर वहाँ आ गये, वहाँ जगह न पाकर के एक खरगोश फुदकने लगा, वह कहाँ जाये, तभी हाथी के शरीर में खुजलाहट हुयी, उसे खुजाने के लिये अपना एक पैर उठाया, खरगोश ने देखा कि यहाँ स्थान हो गया, तो वह वहाँ जाकर बैठ गया। हाथी ने देखा यदि मैं पैर रखता हूँ तो ये खरगोश मर जायेगा, वह हाथी अपने पैर को उठाये ही रहा। जंगल की अग्नि तीन दिन बाद शांत हुयी सभी जानवर भाग गये खरगोश भी भाग गया हाथी ने अपना पैर जमीन पर रखना चाहा, तो वह चौथा पैर अकड़ गया था और वह जमीन पर गिर पड़ा मृत्यु को प्राप्त हो गया। वही हाथी का जीव दया-करुणा पालन करने के कारण भवान्तर में राजा श्रेणिक का पुत्र अभयकुमार हुआ जो उसी भव से सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुआ।

दया धर्म का पालन जिसने भी किया है नि:संदेह आत्मकल्याण को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार जो 'निर्दोष देवा' अर्थात् 18 दोषों से रहित, वीतरागी सर्वज्ञ देव, जिनकी उत्कृष्ट आत्मा है, जिनमें द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म नहीं हैं यानि जीवन्मुक्त आत्मा परमात्मा

है, जो सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके सिद्धात्मा बनेंगे, अभी चार घातिया कर्मों का नाश कर चुके वे अरिहंत भगवान् ही सच्चे देव हैं। और 'निस्पृह' जो स्पृहा से रहित हैं वे सच्चे गुरु हैं सद्गुरु उसके अलावा नहीं हो सकते। सच्चे साधु वही होते हैं जो विषय-कषाय आरंभ-परिग्रह से रहित होते हैं, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन रहते हैं अथवा साधु वह है जो निस्पृह है, निर्मोही है, निर्ग्रंथ है, निर्मल चित्त का धारक है, नि:शंक है, निर्भीक है, निर्विकल्प है, निर्द्वंद है वह निर्ग्रंथ साधु होता है और पुन: कहा जो इन तीनों का आश्रय लेता है देव-शास्त्र-गुरु वह मुक्ति के बीज को प्राप्त कर सकता है।

जिनेन्द्र देव के माध्यम से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, समीचीन शास्त्रों के माध्यम से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, और साधु की सेवा के माध्यम से जीवन में संयम की प्राप्ति होती है। इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है, इसके बिना कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जहाँ बीज है वहाँ वृक्ष है, जैसा बीज होता है वैसा ही वृक्ष होता है। ये तीन मिलकर ही मोक्ष का मार्ग बनाते हैं इनमें से एक भी कम हो जाये तो मोक्ष का मार्ग नहीं होता। जैसे तिपाई में से एक भी निकल जाये तो तिपाई नहीं कहलाती। जिनधर्म, यथार्थ धर्म, आत्म धर्म को प्राप्त करके नि:संदेह आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति होती है। आप सभी महानुभाव यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धान करके, धर्म का आचरण करके अपनी आत्मा को भव सुख व शिव सुख लेने का पात्र बनाओ, संसार के दु:खों से मुक्त हों यहीं हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं, इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

तुम्हें कौन सा फल चाहिये?

महानुभाव! संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी प्राणी सुख और शांति को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करते हैं, उनका पुरुषार्थ अपने-अपने मनोनुकूल होता है। किसी को कोई कार्य अच्छा लगता है, किसी को दूसरा कार्य। सबका भाव यही रहता है कि हमें जीवन में सुख-शांति मिले, इसीलिये उनका यह क्रम ऊषा बेला से लेकर संध्याकाल तक और निशा के प्रारंभ से लेकर के निशांत तक, मनसा-वाचा-कर्मणा मशीन की तरह से प्राणी लगे रहते हैं। भावनाओं को दबाकर के भी मेहनत करते हैं, अपने शुभचिंतकों का ध्यान न रखकर भी वे परिश्रम करते हैं। कई बार व्यक्ति धन आदि कमाने के लिये शरीर की भी परवाह नहीं करता है। जिन्हें ऐसा लगता है कि धन से ही ज्यादा-सुख-शांति मिलेगी तो वे धन के पीछे ही पागल व दीवाने हो जाते हैं। किसी को लगता है मुझे विश्व में सबसे सुंदर स्त्री मिल जाये तो शांति मिलेगी तो किसी को लगता है मेरी सर्वत्र यशख्याति पद-प्रतिष्ठा बढ़ जाये तब शांति मिलेगी, तो कोई आरोग्य लाभ की प्राप्ति के लिये सब कुछ छोड़ देता है।

महानुभाव! कभी व्यक्ति धन को कमाने के लिये तन को दाव पर लगा देता है, तो कभी तन को बचाने के लिये पूरे धन को दाव पर लगा देता है। वह जीवन में न तो धन का ही सही सदुपयोग कर पाता है और न तन का ही। जो व्यक्ति बुद्धिमान् होते हैं, वह धन का भी सही सदुपयोग कर पाते हैं और तन का भी सही उपयोग कर पाते हैं। वे वचन-मन के साथ-साथ अपने पास उपलब्ध साधन-सामग्री का भी सही सदुपयोग कर पाते हैं।

हमें जीवन में कौन सा फल चाहिये? किसान को यदि आम्र फल चाहिये तो उसे आम्रवृक्ष ही लगाने होंगे, आम्र बीज को बोना होगा और खाद-पानी आदि से पुष्ट करते हुये वृक्ष को फलित करना होगा तभी आम्र फल आ सकते हैं। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह आम का पेड़ लगाये व बेल अंगूर की आ जाये। वह आम्र वृक्ष का सिंचन जल से नहीं दुग्ध और घृत से भी करे तब भी आम के पेड़ पर अंगूर की बेल नहीं लगेंगी। क्योंकि वह बीज आम का है, वृक्ष आम का है तो आम ही लगेंगे। दूसरी ओर यदि किसी ने अंगूर की बेल लगायी है तो उस पर कभी बबूल के काँटे नहीं लगेंगे या तो फल लगेंगे ही नहीं, लगेंगे तो अंगूर ही लगेंगे।

जैन दर्शन में कहा है कि प्राणी के मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन होता है जिससे आश्रव होता है, वह निष्फल नहीं जाता। जैन दर्शन में किसी भी क्रिया को निष्फल नहीं कहा, कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो नपुंसक या बाँझ की तरह से हो। नपुंसक अपना फल देने में असमर्थ होता है। उसी तरह कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं जिन्हें बाँझ या नपुंसक कहा जाता है, जो फल नहीं देते, केवल बीज से उत्पन्न हो जाते हैं और पुनः समय पाकर के वे नष्ट भी हो जाते हैं। किन्तु जैन दर्शन कहता है आपकी कोई भी मन-वचन-काय की क्रिया वह कभी भी निष्फल नहीं होती वह अपना फल नियम से देती ही देती है।

महानुभाव! अब हमें कौन सा फल चाहिये; यदि हमें फल पुण्य का चाहिये तो क्रिया पुण्यरूप करनी पड़ेगी, और हम पाप का फल चाहते हैं तो क्रिया पापरूप करनी पड़ेगी। ये कभी नहीं हो सकता है कि पुण्य के वृक्ष पर पाप के फल लगने लगें, और

पाप के वृक्ष पर पुण्य के फल लग जायें। आप स्वयं जानते हैं कि जल में से ऊष्णता नहीं आती और अग्नि में से शीतलता नहीं आती। जल शीतल है, अग्नि ऊष्ण है, ऐसे ही पुण्य का फल सुख रूप है और पाप का फल दु:ख रूप है, अब आपको क्या अच्छा लगता है। आचार्य सकलकीर्ति जी महाराज ने सुभाषित रत्नावलि ग्रंथ में लिखा है-

धर्म संबलतः स्वर्गं, श्वभ्रं पाप फलाद्भजेत्।
सुखं दु:खं विदित्वा च, यदिष्टं तत् समाचरेत्॥

आचार्य महोदय कह रहे हैं- धर्म का संबल लेने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और नरक आदि की प्राप्ति पाप के फल से होती है। सुख और दु:ख दोनों को जानकर के जो आपको इष्ट लगे, वह आचरण आप करो। आचार्य भगवन् कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने भी इसे रयणसार में एक गाथा के रूप में लिखा है-

असुहादो णिरयादो सुहभावादो सग्गसुहमाउ।
दुहि-सुहि-भावं जाणे, जं ते रुच्चई तं कुज्जा॥

जैसा रुचे वैसा करो, जैसे माता-पिता अपने बच्चों से कहते हैं-बेटा! आप कुसंगति छोड़ दो, व्यसन छोड़ दो इनसे दु:ख मिलेगा, परेशानी उठानी पड़ेगी और अच्छे कार्य, सत्संगति ग्रहण करो, पढ़ो-लिखो पुण्य कार्य में संलग्न हो इससे तुम्हें अच्छा फल मिलेगा। जब माता-पिता समझाते-समझाते थक जाते हैं तब अंत में वे कह देते हैं बेटा! हमने तुम्हें अच्छा-बुरा दोनों बता दिया, एक सुख का मार्ग है दूसरा दु:ख का अब तुम्हें जो अच्छा लगे वह मार्ग ग्रहण करो। यही बात आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी जी कह रहे हैं- अशुभ परिणाम करने से नरकायु का बंध होता

है, तिर्यंचायु का बंध होता है, नाना प्रकार के दु:ख प्राप्त होते हैं, दुर्गति, दुर्दशा प्राप्त होती है। सकलकीर्ति जी महाराज भी यही कह रहे हैं- नरकगति की प्राप्ति पाप के फल से होती है। यदि आप सोचो पाप करते रहो और नरकादि दुर्गतियों की प्राप्ति न हो तो ऐसा नहीं हो सकता। जहाँ नरक का बीज बो दिया उस वृक्ष पर नरक का फल लगता है, अब आप चाहें स्वर्ग के फल उगें तो नहीं आयेंगे।

बोवे पेड़ बबूल का आम कहाँ से होई।
करे बुराई सुख चहे कैसे पावे कोई॥

अकौआ का बीज बोने पर आम का फल नहीं मिलता या बबूल बोने से भी आम नहीं मिलता। वही बात कह रहे हैं, सभी धर्माचारों का सारांश इतना ही है कि यदि आप कषायों की तीव्रता रखोगे, पाँच पापों में लीन रहोगे तो दु:ख की ही प्राप्ति होगी सुख की नहीं। आचार्य उमास्वामी जी महाराज ने कहा जब पापों का बंध होता है उस समय वे पाप कहलाते हैं और उदय में आते हैं तो दु:ख कहलाते हैं। दु:ख जहाँ-जहाँ मिलता है वहाँ-वहाँ पाप जीव को ले जाता है। दु:ख कहाँ मिलता है? नरक में मिलता है तो वहाँ ले जायेगा, तिर्यंचों में एकेन्द्रिय-दोइन्द्रिय आदि की पर्याय में और संज्ञी में भी ले गया तो हिंसक पशु बना दिया, या बोझा ढ़ो रहा है, सर्दी-गर्मी-वर्षा के दु:ख सह रहा है उसके शरीर पर भार लदा है फिर भी बेचारा मार सहन कर रहा है। देव दुर्गति हो गयी, व्यंतर आदि बनकर भटक रहे हैं या कुमानुष बन गया या निर्धन बन गया, यह सब पाप के उदय से होता है। तो श्वभ्र (नरक) जैसे दु:खों की प्राप्ति जब भी होती है पाप के फल से ही होती है।

इसके विपरीत स्वर्ग समान सुखों की प्राप्ति होती है। जहाँ के सुखों के लिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा-

हृषीकजमनातंकं दीर्घ कालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव॥5॥

जहाँ इन्द्रिय जन्य सुख-भोगसामग्री है, जहाँ के सुख विघ्न-बाधा से रहित दीर्घकाल तक रहने वाले हैं, ऐसे वे सुख स्वर्ग में प्राप्त होते हैं। जिन सुखों की समानता स्वर्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है अर्थात् स्वर्ग सुखों को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती।

आचार्यवर कह रहे हैं- धर्म का संबल लेने से, धर्म का आलंबन लेने से, उसका सहारा व उसकी शरण लेने से, धर्म को अपने हृदय में स्थान देने से, धर्मानुसार अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करने से तुम्हें संसार के कोई भी व्यक्ति पाप का फल नहीं दे सकते और कोई भी शक्ति तुम्हें नरकादि दुरावस्थाओं को प्राप्त नहीं करा सकती।

महानुभाव! जब पाण्डव वनवास में समय व्यतीत कर रहे थे। तब एक समय दुर्योधन ने एक कनकध्वज नामक व्यवसायी के साथ मिलकर पाण्डवों को मारने का षड्यंत्र रचा। नारद जी के माध्यम से पाण्डवों को ये पता चल गया कि हमारा घात करने के लिये कनकध्वज कृत्या विद्या की साधना कर रहा है, तब उन्होंने इस विपत्ति से बचने के लिये अपना मन (चित्त) धर्मध्यान में, धार्मिक कार्यों में लगाया क्योंकि वे जानते थे कि धर्म की अद्भुत महिमा है, धर्म ही आपत्तिकाल में सबका रक्षक होता है। जब उनका मन धर्मध्यान में लीन हो गया तब अचानक से एक देव का सिंहासन कम्पायमान हो उठा उसे

अवधिज्ञान से पता लग गया कि इस समय पाण्डवों पर खतरा मंडरा रहा है। तब वह पाण्डवों के पास आया "और कहने लगा" कि पाण्डुवंश की रक्षा का भार मुझे सौंपा गया है" तुम लेश मात्र भी भय मत करना। पर शायद उसका अन्तर्मलिन था, छल-कपट से भरा हुआ था इसीलिये उसने द्रौपदी का हरण कर लिया जिससे पाण्डव क्षुब्ध हो गये और उसका पीछा करने लगे। लेकिन पकड़ने में असमर्थ रहे। पर नकुल व सहदेव उस देव का अनुगमन करते हुये एक निर्जन वन में पहुँच गये जहाँ प्यास से उनका गला सूखने लगा। तब देवनिर्मित जलाशय का पानी पीने से उन्हें मूर्च्छा आ गयी। और जब बहुत समय व्यतीत होने पर भी वे पाण्डवों के पास न पहुँचे तो उन्हें चिन्ता सताने लगी।

तब युधिष्ठिर ने अर्जुन को उन्हें खोजने के लिये भेजा। रास्ते में अर्जुन को एक व्यक्ति मिला जिसने बताया कि आपके भाई जलाशय के तट पर मूर्च्छित पड़े हुये हैं। अर्जुन तुरन्त वहाँ पहुँचा और अपने भाईयों को मूर्च्छित देखकर ललकारने लगा कि कौन है यहाँ जिसने मेरे भाइयों की यह दुरावस्था की है? मैं उस पापी को शीघ्र ही यमराज के घर पहुँचा दूँगा। अर्जुन के क्रोध भरे वाक्यों को सुनकर अदृश्य देव ने कहा-कि इन्हें मैंने निहत किया है। यदि तुम्हें भी अपनी वीरता पर घमण्ड है तो इस जलाशय के जल का पान करके देखो क्या होता है? आवेश में आकर अर्जुन ने पानी पी लिया और वह भी मूर्च्छित हो गया। जब अर्जुन नहीं पहुँचा तब भीम को भेजा, भीम ने भी अर्जुन का ही मार्ग अपनाया और वह भी मूर्च्छित हो गया, तब युधिष्ठिर ने भी वैसा ही किया और वह भी मूर्च्छित हो गया। उधर कनकध्वज को विद्या सिद्ध हो गयी उसने उस विद्या को

पाण्डवों का वध करने के लिये भेज दिया पर जब उसने पाण्डवों को पहले से ही मृत अवस्था में देखा तो जो अदृश्य देव था वह अपना छद्मवेश त्यागकर भील के रूप में प्रकट हुआ। उसे देखकर विद्या ने कहा कि मुझे अब क्या करना चाहिये तब देव जो भील के रूप में था उसने कहा कि तुम्हें आज्ञा पालन करना चाहिये ये तो पहले ही मर चुके हैं तो तुम्हें कनकध्वज को ही मार देना चाहिये, विद्या को ये उचित लगा। उसने जाकर कनकध्वज का सर्वनाश कर दिया।

तथा इसके पश्चात् उस देव (जिसे अब तक हम पाण्डवों का शत्रु समझते आ रहे हैं) ने पाण्डवों के शरीर पर गंधोदक की बूँदे छिड़ककर उन्हें पुनः चैतन्यावस्था में लाया। युधिष्ठिर ने उससे जिज्ञासा की कि आपने हमारा उपकार क्यों किया? आप कौन हैं? तब देव ने उत्तर दिया कि मैं सौधर्म इन्द्र का एक स्नेह पात्र हूँ। तुम्हारी धर्म भावना तथा विशुद्ध धर्माराधना को देखकर प्रभावित होकर तुम्हारी रक्षा के लिये यहाँ आया था तथा योजनानुसार मैंने तुम्हारी रक्षा की और उसने सम्मानपूर्वक द्रौपदी को भी मुक्त कर दिया तथा उन्हें बार-बार प्रणाम करके अपने स्थान पर चला गया। महानुभाव! धर्म की अचिन्त्य महिमा है जिसके माध्यम से देव भी रक्षा करने आ जाते हैं और कदम-कदम पर सहयोग प्रदान करते हैं। धर्म के प्रभाव से ही पाण्डवों ने मुक्ति को प्राप्त किया। धर्म का संबल लेने से तो नियम से स्वर्ग की व कालान्तर में मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसमें कोई शंका का स्थान नहीं। यह धर्म ही इष्ट ही संप्राप्ति कराने वाला है, हम जो भी चाहें वह सब कुछ धर्म के माध्यम से मिलता है।

कहते हैं कामधेनू, कल्पवृक्ष और चिंतामणि रत्न से इच्छित वस्तु मिल जाती है, किन्तु धर्म एक ऐसी चीज है कि बिना सोचे, बिना विचार किये, बिना इच्छा किये ही सब कुछ मिल जाता है। ऐसा पढ़ते हैं-

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिंतत चिंता रैन।
बिन जाँचे बिन चिंतये, धर्म सकल सुख देन॥

याचना करने पर, चिन्ता करने पर, अभिलाषा करने पर चिंतामणि रत्न, कामधेनू, कल्पवृक्ष आपके मनोरथों को पूर्ण करते हैं किन्तु धर्म एक ऐसी चीज है बिना इच्छा, कामना, वाँछा के, बिन माँगे ही सम्पूर्ण प्रकार के सुख व यथेष्ट पदार्थों को देने वाला है। तो धर्म के वृक्ष से वह सब कुछ प्राप्त होता है जो-जो अनुकूल होता है वह धर्म ही भवसुख व शिवसुख का कारण है।

पाप के फल से नरक-निगोद के दुःख, मन, वचन, तन के व इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतन आदि जितने भी प्रकार के दुःख इस संसार में हैं उन सभी प्रकार के दुःखों की प्राप्ति पाप करने से होती है। बिना पाप के किसी प्राणी को दुखी नहीं किया जा सकता। पूरा संसार मिलकर प्राणी को दुखी करना चाहे तो नहीं कर सकता, जब तक उसके पाप कर्म का उदय नहीं हो और यदि उसके पाप कर्म का उदय है तो संसार का प्राणी उसे सुखी नहीं कर सकता क्योंकि जब तक उसके पाप कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम नहीं होगा तब तक वह सुखी नहीं हो सकता।

इसीलिये आचार्य ने कहा- पाप के फल अर्थात् दुःख को व

धर्म के फल सुख को जानकर के तथा सुख व दुःख के कारणों को जानकर के जो आपको इष्ट लगे उसी प्रकार का आचरण करो। जैसे माँ कह देती है बेटा ये ठंडा पानी है, ये गर्म पानी है जो रुचे वह ले लेना, एक में दूध है एक में छाछ जो पसंद हो वह पी लेना, एक फूल का मार्ग है एक शूल का मार्ग है आपको जो अच्छा लगे उस पर चल लेना। तो ऐसे ही कहा 'यथेष्टं यत् समाचरेत्' जो रास्ता आपको अच्छा लगता है आप उसी रास्ते का आचरण करो।

महानुभाव! सामने वाला आपको सिर्फ दिशा-निर्देश दे सकता है, चलना आपको ही पड़ेगा। यदि आपके शरीर में रोग है तो कोई वैद्य आपको औषधि दे सकता है, आपने सेवन किया तो रोग का निदान कर सकते हो, नहीं किया तो रोग बढ़ता चला जायेगा। एक रोग बढ़ाने वाला पदार्थ है, एक पदार्थ से रोग न घटेगा न बढ़ेगा और एक पदार्थ ऐसा है जिससे शनैः-शनैः रोग घटता चला जायेगा। अब तीनों चीज वह वैद्य सिर्फ आपको बता सकता है जबरदस्ती मुँह में औषधि डाल नहीं सकता। माँ करुणा करके बालक के कंठ तक औषधि डालने का प्रयास कर सकती है वह भी छोटे बालक को। बेटे के हाथ पैर दबाकर नाक बंद करके चम्मच से मुँह में औषधि डाल देती है यदि बेटा उल्टी कर दे तो माँ कंठ के आगे नहीं ले जा सकती।

ऐसे ही सद्गुरु होते हैं जो हमारे हितैषी होते हैं वह हमारा उपकार करते हैं, उपकार का उपदेश देते हैं। उनके पास जाकर हम वास कर सकते हैं किन्तु वे हमारे अंदर नहीं जा सकते, वे हमें उपदेश ऐसा दें कि वह हमारे अंदर तक उतर जाये, हमारे अंदर के अंधकार को नष्ट कर दे, हमारी कमजोरी को दूर कर

दे, हमारी धारणाओं को बदल दे, हमें सही रास्ता दिखा दे, हमारे जीवन के दुर्गंधित वातावरण में सुगंधी ही सुगंधी भर दे, दुःख के वातावरण में सुख का प्रकाश, सुख का सौरभ, सुख की सुरभि आ जाये, ऐसा वे कर सकते हैं, किन्तु उसका सेवन स्वयं को ही करना पड़ेगा। यदि माँ बेटे के सामने थाली लगाकर भी रख दे तब भी भोजन बेटे को ही करना पड़ता है। दूसरों के करने से स्वयं को फल की प्राप्ति नहीं होती।

महानुभाव! यहाँ इतना ही कहा-जो कुछ भी तुम्हें इष्ट लगता है वैसा ही आचरण करो As you like so do आप स्वतंत्र हो, आप पर कोई बंदिश नहीं, कोई दबाव नहीं। स्वेच्छा से आप जान लो फिर जो चाहो वह करो। आपके लिये हम इतना ही कहना चाहते हैं आप बुरे मार्ग को छोड़कर अच्छे मार्ग का चयन करो, जिससे आप अच्छाई का पुंज बन जाओ आप सुख शांति को प्राप्त कर सको, ऐसी आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं, इसी के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

आत्मा के परिणाम

महानुभाव! जीवन में जितने भी कार्य किये जाते हैं, वे सभी कार्य अपना सम्पूर्ण फल देने में समर्थ नहीं होते। कारण क्या है कि व्यक्ति कुछ कार्य तो केवल तन से करता है, कुछ कार्यों में तन और वचन को लगाता है, कुछ कार्य ऐसे होते हैं जिसमें मन, वचन, काय तीनों लगते हैं। जो कार्य केवल शरीर से किये हैं अर्थात् हो गये हैं चाहे वे कार्य पुण्य के हों या पाप के उसमें मन नहीं लगा तो उन कार्यों का फल पूर्ण नहीं मिलता। ऐसा कहा जाता है कि शरीर के माध्यम से किये गये कार्य, जिनमें मन और वचन नहीं लगा है उनका फल अत्यल्प होता है। वचन के माध्यम से किये गये कार्य का फल थोड़ा ज्यादा होता है किन्तु मन के माध्यम से किये गये कार्य का फल बहुत ज्यादा होता है और जिस कार्य में मन-वचन-काय तीनों लग गये तब उसमें अधिक से अधिक फल की प्राप्ति होती है।

आत्मा की परिणति कई बार मन, वचन, काय के अनुसार होती है, मन में जो चिंतन चलता रहता है, जैसे वचन श्री मुख से निकलते रहते हैं, क्रियायें शरीर से जैसी होती हैं प्रायःकर के आत्मा की प्रवृत्ति भी उसी मय हो जाती है। जब आत्मा की प्रवृत्ति, परिणति उस रूप होती है तब कर्म का जो आश्रव-बंध होता है वह उत्कृष्ट रूप से होता है। चाहे शुभ रूप में हो या अशुभ रूप में हो। आत्मा एक राजा है और मन उस राजा का निकटवर्ती अमात्य है। कार्य और वचन द्वितीय, तृतीय नंबर के मंत्री व महामंत्री हैं। राजा ने जो ऑर्डर दे दिया वह बात पक्की हो गयी, अमात्य, मंत्री व महामंत्री द्वारा प्रस्तावित जो सूचनायें

होती हैं उनमें कभी रद्दोबदल भी हो जाता है किन्तु राजा के श्री मुख से जो घोषणायें होती हैं वे अटल और अचल होती हैं।

हमारा शरीर जो क्रिया करता है उसके साथ कई बार वचन व मन भी लग जाता है किन्तु कई बार जब शरीर से अकेली क्रिया होती है वे अबुद्धि पूर्वक की गई क्रियायें होती हैं उनसे कर्म का आश्रव कम होता है और जिस क्रिया में बुद्धि लग जाती है फिर कर्म का आश्रव बहुत ज्यादा होता है। आत्मा भी उसी के साथ सहयोगी बन जाये, तो कहना ही क्या। मन, वचन, काय ये चोर भी बन सकते हैं और साधु भी बन सकते हैं। आत्मा एक मालिक है, यदि ये मालिक ही चोरों के साथ लग जाये तो चोर भरपूर चोरी करते हैं। आत्मा ने यदि तीनों को संकेत कर दिया, उन्हें डरा दिया तो मन-वचन-काय वहीं समर्पण कर देते हैं। तो आत्मा सर्वशक्तिशाली है। आत्मा है तो शरीर जीवंत है। जैसे विद्युत उपकरणों में विद्युत प्रवाह न हो तो वे मृत तुल्य हैं ऐसे ही मन, वचन, काय ये आत्मा के बिना मृत हैं। आचार्य महोदय कहते हैं आत्मा की परिणति सुधारो। आत्मा की परिणति सुधारने के लिये मन की प्रवृत्ति, वचनों का व्यवहार व काय की क्रिया को सुधारो।

'कायवाङ्मनः कर्म योगः' क्रमशः शरीर, वचन और मन से आश्रव होता है तो पहले शरीर से अशुभ क्रिया करना छोड़ो, शरीर से पाप व कषायों को छोड़ो, फिर वचनों से कषाय प्रवृत्ति-व्यसनों की प्रवृत्ति छोड़ो पुनः मन को संभालो, मन से पाप मत करो, कषायों में लीन मत होओ और मन से इन्द्रिय विषयभूत प्रवृत्ति न करो। अब इन सभी के पश्चात् नियंत्रण करो

आत्मा पर जब आप इस प्रकार क्रमशः बढ़ते जाओगे तो आप आत्मा को आत्मा में संलग्न करने में समर्थ हो सकोगे।

जिसका मन-वचन-काय चंचल है, अनियंत्रित है तो आत्मा पर नियंत्रण संभव नहीं है और ना ही आत्मा की आत्मा में लीनता संभव है। यह क्रम है, शरीर संयम, वाणी संयम और मन संयम पुनः आत्मा पर संयम किया जाता है। आत्मा के परिणामों का विशेष महत्त्व है आचार्य पूज्यपाद स्वामी जी ने लिखा है-

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्द्धे किं स सीदति॥

आत्मा के जिन परिणामों से जब किसी व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति भी हो सकती है, तब आत्मा के वे परिणाम क्या स्वर्गादि के वैभव को नहीं दे सकते? दे सकते हैं। आचार्य महोदय श्री सकलकीर्ति जी महाराज सुभाषित रत्नावली ग्रंथ में 294 वें श्लोक में कहते हैं-

नश्यन्ति येन धर्मेण जन्ममृत्युजरादिकाः।
किं न नश्यन्ति तेनैव रोगक्लेशभयादयः॥

जिस धर्म की भावना के द्वारा यह जीव जन्म-जरा-मृत्यु का नाश कर सकता है। धर्म का सहारा लेकर क्या रोग, क्लेश भय आदि को नष्ट नहीं कर सकता है। धर्म वह नहीं जो बाहर से धारण किया गया हो वह ओढ़ा धर्म, धर्म का मित्र या साथी हो सकता है, वह व्यवहार धर्म हो सकता है किन्तु निश्चय धर्म तो वही है जो आत्मा में प्रकट हो। व्यवहार धर्म के लिये शरीर की साधना, वचन की साधना, मन की साधना आवश्यक होती है निश्चय धर्म को प्रकट करने के लिये आत्मा ही समर्थ होती है।

किन्तु निश्चय धर्म मन-वचन-काय की साधना के बिना उत्पन्न भी नहीं होता। धर्म सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र व्यवहार रूप होता है तब यह अलग-अलग है और निश्चय रूप से आत्मा ही सम्यक्त्व रूप है, आत्मा ही ज्ञान रूप है और आत्मा ही चारित्र रूप है। तीनों जब एक हो जाते हैं तब निश्चय मोक्षमार्ग बनता है, वह धर्म आत्मा में से प्रकट होता है, वह धर्म आत्मा का स्वभाव है वही धर्म निःसंदेह मोक्ष को देने में समर्थ है।

आचार्य महोदय कह रहे हैं- जिस धर्म के द्वारा बार-बार जन्म नहीं होगा उस आत्म धर्म को प्राप्त कर लिया तो आपको मृत्यु की प्राप्ति नहीं होगी और ना ही आप बुढ़ापा (जरा) के शिकार बनेंगे। आत्मधर्म ही आत्मा का कल्याण करने में समर्थ है। एक बार एक हाथी नदी किनारे पानी पीने गया, उसने देखा पानी किनारे से बहकर आ रहा है, सूंड को नीचे डालकर पानी पीने की कोशिश की किन्तु सूंड वहाँ तक पहुँच नहीं पायी। उसने देखा आगे गहरा गड्ढा है वह पानी में उतर नहीं पायेगा और आगे चलकर देखा एक सूखा सा स्थान है वहाँ नदी का पानी फैला हुआ जा रहा है वह वहाँ तक चलकर गया और पानी पिया। पानी पीकर वह जैसे ही मुड़ा, मुड़ते समय उसने एक पैर पानी में रखा, एक पैर सूखे में रखा और पुनः जब निकलने को हुआ तो उसके दोनों पैर दलदल में फँस गये। उसने निकलने की बहुत कोशिश की पर अब उसके चारों ही पैर दलदल में फँस गये। हाथी ने बहुत ताकत लगायी पर निकल नहीं पाया।

नदी किनारे कुछ चूहे इस दृश्य को देख रहे थे, पहले तो वे चूहे हँसने लगे, एक वृद्ध चूहे ने अन्य चूहों से कहा- अरे! किसी को मुसीबत में देखकर हँसना नहीं चाहिये, उसकी

सहायता करना चाहिये यही धर्म है। क्या तुम धर्म को भूल गये, तुममें मानव के गुण कहाँ से आ गये? मानव ऐसी प्रवृत्ति करता है जो दूसरों को संकट में देखकर हँसता है, तुम तो अभी पशु हो, ऐसा व्यवहार मत करो। सभी चूहों ने बात मानी और सभी मिलकर एक लम्बी सूतली ले आये, और हाथी के पास डाल दी, उससे कहा- इसे कसकर सूंड में पकड़ लो, हम सब तुम्हें मिलकर खींच लेंगे। हाथी, जो उस समय दलदल में फँसा था वह भी चूहों की इस अल्पज्ञता को देखकर मुस्कुराया, क्या ये मुझे निकाल पायेंगे। वे चूहे उसे निकाल भी नहीं पाये। वे चूहे जंगल में गये, वहाँ से लोमड़ी-बिल्ली को बुलाकर लाये, फिर थोड़ी मोटी रस्सी हाथी के पास डाली, उससे कहा इसे पकड़ो, सभी ने खींचने का प्रयास किया तब भी नहीं खींच पाये। वे पुनः जंगल गये अन्य-अन्य जानवर-बन्दर, रीछ, भेड़िया आदि को बुलाकर लाये, और बड़ा रस्सा मँगाया, सभी ने निकालने का प्रयास किया तब भी न खींच पाये। उसी नदी के किनारे मुनिराज तपस्या कर रहे थे उनकी वात्सल्यमय वर्गणाओं से जंगल में रहने वाले जानवर जो जन्मजात बैर को धारण करने वाले थे सभी के परिणाम शुद्ध हो गये थे, इससे सबके मन में करुणा-दया का भाव जाग्रत हो रहा था।

सभी ने देखा हम सभी निकालने में तो समर्थ नहीं हैं, तभी वहाँ एक हाथी चलता हुआ आया, हाथी ने देखा सभी जानवर मिलकर दलदल में से हाथी को निकालने का प्रयास कर रहे हैं। उस हाथी ने अपनी भाषा में कहा- 'ठहरो' सभी जानवर रुक गये, हाथी ने सबको अलग किया कहा आप लोगों ने बहुत परिश्रम कर लिया, शुभ भावनायें भी भायीं। अब हाथी ने एक

मजबूत स्थान पर खड़े होकर अपनी सूंड में रस्से को लेकर अंटा लगाया और दूसरा छोर फँसे हाथी को दिया उसने भी अपनी सूंड में अंटा लगाया अब बाहर खड़े हाथी ने उसे खींचा, दोनों ने ताकत लगायी और हाथी बाहर निकलकर आ गया।

महानुभाव! यह दृष्टांत प्रमोदी लग रहा है। किंतु इसमें तथ्य छिपा हुआ है जिस दलदल में फँसे हुये हाथी को निकालने में हाथी ही समर्थ हुआ और कोई जानवर समर्थ नहीं हुये ऐसे ही हमारी आत्मा जो इस संसार रूपी दलदल में फँसी है उस जीवात्मा को निकालने में आत्मधर्म ही समर्थ है और कोई समर्थ नहीं है। व्यवहार का धर्म हमें संसार का सुख दे सकता है, व्यवहार का धर्म हमें संसार में उच्च अवस्था प्राप्त करा सकता है, व्यवहार धर्म का पालन करके हम स्वर्ग जा सकते हैं, राजा-महाराजा बन सकते हैं, भोगभूमि जा सकते हैं और संसार के विभिन्न वैभव को प्राप्त कर सकते हैं किंतु सिद्धों जैसे आत्मवैभव को प्राप्त करने के लिये तो आत्मधर्म ही समर्थ है। दूसरा धर्म आत्मा का वैभव दे नहीं सकता। जो निश्चय से आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता जो परमार्थ से धर्म है। उस निश्चय धर्म को प्राप्त किये बिना कोई भी आत्मा कर्मों से मुक्त नहीं हो सकती।

महानुभाव! आचार्यों ने ठीक ही लिखा-'नश्यन्ति येन धर्मेण' जिस धर्म के द्वारा जन्म, जरा, मृत्यु का नाश हो जाता है क्योंकि जब तक कर्म हैं तब तक जन्म लेना पड़ेगा, जब जन्म लेता है तो मृत्यु को भी प्राप्त करना पड़ता है और मनुष्य-तिर्यंच होता है तो बुढ़ापा भी आता है। देव-नारकी और भोगभूमिजों के बुढ़ापा नहीं आता। रोग शरीर में भरे पड़े हैं, कब कौन सा रोग

उदय में आ जाये कह नहीं सकते। हम नहीं जानते कब तक हमारा शरीर स्वस्थ रहेगा कब अस्वस्थ हो सकता है। जिसने पूर्व में निर्ग्रंथ संतों की वैय्यावृत्ति-सेवा की है उसका शरीर तो निरोगी रहता है, कामदेव सा सुंदर रहता है, जिसने पूर्व भव में साधुओं की-धर्मात्माओं की सेवा नहीं की, तो उसे वज्र वृषभनाराच संहनन नहीं मिलता, शरीर निरोगी व सुंदर नहीं मिलता। जिन्होंने पूर्व में उपसर्ग किया हो तो वे विकलांग होते हैं, असाध्य रोग से पीड़ित होते हैं, शरीर कुबड़ा होता है वे कुष्टादि भयंकर रोग से पीड़ित होते हैं। किन्तु जो सेवा करते हैं वे कामदेव से सुंदर, वज्रवृषभनाराच युक्त संहनन व निरोग अवस्था को प्राप्त होते हैं।

यहाँ कहा जिन्होंने पूर्व जन्म में निश्चय धर्म का पालन किया वे महापुरुष होते हैं तथा इस भव में उन्हें बुढ़ापा (जरा) की प्राप्ति नहीं होती। व्यवहार धर्म का पालन करने वाले भी देव अवस्था को प्राप्त कर जरा से दूर रह सकते हैं और जिसने निश्चयधर्म को ग्रहण किया वह तो बुढ़ापे को प्राप्त ही नहीं होगा, स्वर्ग में पहले इन्द्रादिपद को प्राप्त करता है वहाँ से च्युत होकर चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण या तीर्थंकर जैसे पद को लेकर मोक्ष पद भी प्राप्त करता है। यहाँ आचार्यवर कह रहे हैं जिस धर्म से जन्म-जरा-मृत्यु जैसे रोग नष्ट हो जाते हैं क्या उस धर्म के परिणाम से रोग-क्लेश-भय आदि नष्ट नहीं होंगे। अर्थात् अवश्य नष्ट होंगे।

धर्म का पालन करने वाले के चाहे कितने भी रोग हों वे नष्ट हो जाते हैं, क्लेश-अर्थात् इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग या किसी वस्तु की प्राप्ति में तीव्रवांछा होने पर व न मिलने पर जो क्लेश भाव होता है वह क्लेश भी धर्म का पालन

करने से नष्ट हो जाता है। भय-अर्थात् जो धर्म का पालन करता है वह तीन लोक में निर्भीक रहता है। अभय को प्राप्त होता है। वह धर्म शाश्वत है। धर्म का आश्रय लेने पर ही आत्मा शाश्वत अवस्था को प्राप्त करती है अन्यथा जन्म-मरण कर अनेक पर्यायों में भटकती रहती है। जैसे लकड़ी अग्नि का संयोग पाकर अग्नि हो जाती है ऐसे ही यह आत्मा शाश्वत धर्म का सेवन करके शाश्वत हो जाती है इसे भी शाश्वत सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है।

महानुभाव! उस यथार्थ धर्म को, परमात्म धर्म को आप सभी भी धारण करें, उस धर्म के माध्यम से अपनी आत्मा का कल्याण करें, अपनी आत्मा के शाश्वत वैभव को प्राप्त करें। हम आप सभी के प्रति ऐसी भावना भाते हैं, इन्हीं भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

समय का सदुपयोग

महानुभाव! जीवन द्रुत गति से चलने वाले किसी यान की तरह से है। जीवन पर्वत से गिरती हुयी सरिता की धारा की तरह से है। जीवन कोई कहता है पानी के बबूले की तरह से है, कोई कहता है पुष्प की गंध की तरह से है जो अनुभव में तो आता है किन्तु पकड़ में नहीं आता। उस जीवन को हमें सफल और सार्थक करना है। जीवन हमारा मंगलमय हो, स्व-पर के लिये हितकारक बने सफल और सार्थक हो, यह कैसे संभव हो सकता है? इसके लिये कुछ पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है।

अनादिकाल से इस प्राणी के जीवन में जो कुसंस्कार पड़े हैं, उनके अनुसार जीवन व्यतीत करने से जीवन सफल और सार्थक नहीं हो सकता। जीवन सुखद और शांति को प्राप्त नहीं होता, उस जीवन के द्वारा हम अपने अंतिम व चरम लक्ष्य को प्राप्त नहीं हो पाते उन कुसंस्कारों का तो नाश करना ही पड़ेगा, उसके लिये परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जिस व्यक्ति ने समय का सदुपयोग किया, समझो उस व्यक्ति ने अपने जीवन का सदुपयोग किया। समय एक ऐसी मरहम है जो बहुत गहरे घावों को भी ठीक कर देती है। समय वह है जिसके द्वारा छोटी सी लकीर बहुत बड़ी खाई बन जाती है। समय वह चीज है जो तत्काल की बात को भी दूरवर्ती कर देता है। समय वह चीज है जो बीज को अंकुर-वृक्ष-वृद्धवृक्ष और उसका अंत कर देता है। समय ही वह चीज है जिसके द्वारा छोटे-बड़े का भेद किया जा सकता है। समय न हो तो किसी भी द्रव्य में परिवर्तन संभव नहीं है।

महानुभाव! समय कभी अनुकूल होता है, कभी प्रतिकूल। प्रातःकाल सूर्योदय होता है, संध्याकाल तक ढल जाता है।

"समय-समय की बात है, समय समय का खेल।
समय बिगड़ने में नहीं लगे जरा सी देर॥"

यह समय जीवन के खेल को बना भी देता है और जीवन के खेल को बिगाड़ भी देता है। समय के मायने पहला अर्थ है 'काल'। आप व्यवहार में कहते हैं हमारे पास समय नहीं है, या आज बहुत समय बाद मिले, या समय की कीमत पहचानो, समय का दुरुपयोग मत करो इत्यादि वाक्यों में समय शब्द का प्रयोग काल (टाइम) के लिये होता है।

दूसरा समय शब्द का प्रयोग आत्मा के लिये किया जाता है। आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा को समय शब्द से संबोधित किया और जिस ग्रंथ में आत्मा का सार लिखा उसे 'समयसार' नाम कह दिया। या जहाँ कहीं भी आत्मा के गुणों की चर्चा हो, आध्यात्मिक चर्चा हो, शुद्धात्मा की चर्चा हो तो उसे भी समय का सार कह दिया जाता है। समय का अर्थ-मत, सम्प्रदाय, धर्म आदि से भी लिया जाता है। स्व-समय, पर-समय, अपना-मत, पर-मत। समय का अर्थ जिनशासन से भी लिया जाता है, समय की छत्रछाया में ही आत्मा को परमात्मा बनाया जा सकता है।

महानुभाव! समय बहुत महत्त्वपूर्ण चीज है। जीवन में प्राणी सबको पहचानने की कोशिश करता है, कौन अपना है, कौन पराया है, कौन मेरे लिये हितकारी है, कौन अहितकारी है, किसके माध्यम से कल्याण होगा, किसके माध्यम से अकल्याण

ये सब देखता है, प्रयास करता है और हितकारी को देखने की कोशिश करता है, इसीलिये व्यक्ति छोटी से छोटी वस्तु का भी सदुपयोग करता है। यदि वह चार रुपये की झाड़ू भी लायेगा तो उसका सदुपयोग करेगा, यदि कोई 10 रु. का मटका भी लेकर आया उसका भी सदुपयोग करेगा, एक छोटी सुई भी खरीदी उसका भी सदुपयोग करेगा। व्यक्ति अल्पमूल्य वाली वस्तु से लेकर बहुमूल्य तक की सभी वस्तुओं का सदुपयोग करता है, उसे ऐसा लगता है उसका सदुपयोग करने से जीवन सफल और सार्थक कर लेगा।

वस्तु का सदुपयोग करने से पुनः पुनः वस्तु की संप्राप्ति संभव है। दुरुपयोग करने से उसकी संप्राप्ति बड़ी कठिन है किन्तु व्यक्ति इन सबका सदुपयोग करते हुये अपने शरीर का सदुपयोग क्यों नहीं करता? शरीर का दुरुपयोग क्यों करता है? अपने वचनों का दुरुपयोग क्यों करता है? अपने मन का सदुपयोग क्यों नहीं करता? उसका दुरुपयोग क्यों करता है? अपनी आत्मा का सदुपयोग क्यों नहीं करता, इस आत्मा ने आज इतना अच्छा साधन प्राप्त किया मन-वचन-काय या अन्य उपकरण सामग्री इन सभी को प्राप्त करके उसका सदुपयोग करने का भाव क्यों नहीं लाता। ये सब बातें व्यक्ति क्यों भूल जाता है?

महानुभाव! बात ये है कि उसने सही मायने में अभी आत्मा को जाना ही नहीं। जो व्यक्ति समय का सदुपयोग करना जानता है, वही अपने जीवन का सदुपयोग करना जानता है। क्योंकि जीवन समय से हटकर कोई दूसरी चीज नहीं है। जन्म एक बिंदु है मृत्यु दूसरा बिंदु। जन्म और मृत्यु के बीच में रहने वाला जो काल खण्ड है उसे जीवन माना जाता है, उस काल खण्ड में

शरीर बढ़ता चला जाता है, मन परिपक्व होता है, वचनों में स्पष्ट बोलने की क्षमता आती है। यह सब समय ही करता है। जिसने समय का सदुपयोग किया उसने अपने जीवन का एक-एक क्षण बड़ी सावधानी पूर्वक व्यतीत किया है।

'समय' शब्द को यूँ भी देख सकते हैं। 'स' कहें तो 'स' अक्षर सम्यक् का प्रतीक है। प्रशंसनीय, श्रेष्ठ अर्थात् जो समीचीनता से युक्त है वह समय है। स अक्षर का अर्थ 'समझ' भी ले सकते हैं। जो सम-समय है अर्थात् ज्ञानमय है जो बुद्धिमय, विवेकमय है, चतुराईमय है, नीतिनिपुण है उसे कब-कहाँ कौन सा कार्य करना चाहिये, कैसे करना चाहिये, क्यों करना चाहिये, इत्यादि बातों को जो जानता है वह समय को जानने वाला होता है। 'स' अक्षर का अर्थ समझ, सम्यक् भी लिया जा सकता है। 'स' अक्षर का अर्थ संयम भी लिया जा सकता है। जिस जीवन में आत्मनियंत्रण, इन्द्रिय नियंत्रण, मनोनियंत्रण, वचन नियंत्रण, काय नियंत्रण ये सब नियंत्रण हैं वह संयम कहलाता है। जो व्यक्ति पंचेन्द्रियों को नियंत्रण में रखता है, षट्काय जीव की रक्षा करता है वह संयमी है, जो अपने शरीर पर, वाणी पर व मन पर नियंत्रण करता है वह भी संयमी है। तो 'स' अक्षर के तीन अर्थ सम्यक्, समझ और संयम के साथ-साथ सरलता भी लिया जा सकता है।

अपने परिणामों को सरल बनाओ, 'स' अर्थात् सहज अपने को प्राकृतिक बनाओ। 'सदय' अर्थात् दयामय परिणाम। 'स' अक्षर का अर्थ सफल भी होता है, समता भी होता है। इन सभी अर्थों को 'मय' के साथ जोड़ दिया जाये तो-सम्यक्मय,

समझमय, संयममय, सरलमय, सहजमय, सफलमय, समतामय तब समझो 'समय' शब्द के अर्थ हम सब देखते जा रहे हैं।

महानुभाव! समय के मायने हुआ ये सभी चीजें हमारे जीवन में आ जायें। तब हम अपने जीवन को सार्थक कर पायेंगे, हम अपने जीवन का सदुपयोग कर पायेंगे। जिसने अपने चित्त की उर्वरा भूमि पर समय के सम्यक् बीज नहीं बोये वह उस किसान की तरह से हाथ मलता रह जाता है जो किसान आषाढ़ में बारिश होने पर भी खेत में बीज नहीं बोता, किन्तु जो व्यक्ति समय के रहते हुये अपने चित्त की भूमि को उर्वरा बनाकर के सम्यक् बीजों का वपन करता है ऐसा व्यक्ति सुख की, आनंद की फसल को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव! हम समय का सही सदुपयोग करना सीखें। समय किसी का इंतजार नहीं करता, समय अपनी गति से गतिमान है। चाहे संसार के अन्य कोई यंत्र आदि रुक जायें, चाहे किसी की श्वाँस रुक जाये, बोलना रुक जाये, चलना रुक जाये, विचारों की, चिंतन की धारा रुक जाये, सब कुछ रुक सकता है किन्तु समय कभी रुकता नहीं वह तो निरंतर चलता ही रहता है और चलके भी जाता कहीं नहीं है अपने आप में परिणमन करता रहता है और दूसरों के परिणमन में निमित्त बनता है। वह समय भी यही कहता है कि आप भी अपने आप में परिणमन करो और दूसरों के शुभ परिणमन में निमित्त बनो। चलकर के कहीं नहीं जाना बाहर के चलने से तुम्हें अंतरंग का लक्ष्य नहीं मिलेगा, अब तो आपको अंतरंग में रमण करना है अंतरंग में परिणमन करना है।

एक चित्रकार ने चित्र बनाया वह उस चित्र को बाजार में लेकर गया जहाँ बहुत सारी तस्वीर बिक रही थीं, कोई नेता की तस्वीर, कोई भगवान् की, कोई महापुरुष की तस्वीर विभिन्न-विभिन्न प्रकार के चित्र बिक रहे थे। यह चित्रकार जो चित्र ले गया था वह विचित्र चित्र था, शाम हो गयी उसका चित्र नहीं बिका। शाम को लोग एकत्र हुये आपस में चर्चा की कि यह ऐसा कैसा चित्र लाया है कि कोई भी नहीं खरीद रहा। उससे पूछा कैसा अजीब चित्र है कि पुरुष जैसा चेहरा बनाया है उसे बालों से ढक दिया है, यह पहचान में नहीं आ रहा कि किसका चित्र है और पीछे से भी कुछ दिखाई नहीं दे रहा है। सभी लोगों की जिज्ञासा हुयी कि किसका चित्र है उसने कहा- जो मुझे इस चित्र के विषय में बतायेगा मैं उसे यह चित्र मुफ्त में दे दूँगा। बड़े विद्वान् और राजसभा के मंत्री आदि सभी के समक्ष वह चित्र प्रस्तुत हुआ कि यह चित्र किसका है, परंतु कोई समझ नहीं पाया। पुनः उसी चित्रकार से पूछा गया-आप ही बताओ यह चित्र किसका है। वह बोला-यह समय का चित्र है समय जब सामने से आता है उसे कोई पहचान नहीं पाता जैसे यह चित्र जो लम्बे-लम्बे बालों से ढका है कोई नहीं पहचान पाता कि ये किसका चित्र है सामने कौन आ रहा है।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में समय आता है अच्छा समय भी आता है, बुरा समय भी आता है। बुरा समय जब आता है तो व्यक्ति रोता है, सिसकता है, प्रभु परमात्मा का भजन करता है। अच्छा समय आता है तो प्रायःकर के वह अपने कर्त्तव्यों को भूल जाता है। समय को पहचान नहीं पाता। कई बार उसके जीवन में समय सुअवसर देने के लिये आता है किन्तु वह जान नहीं

पाता कि वह समय का चित्र है और पीछे से सिर चिकना है गंजा है जब वह समय गुजर जाता है, तब व्यक्ति समय को पकड़ने की कोशिश करता है किन्तु पीछे बाल नहीं हैं जो पकड़ ले।

पीछे चाँद चिकनी है उसके हाथ फिसल जाते हैं समय भी हाथ से फिसल जाता है। बालू को मुट्ठी में बंद करने पर फिसल जाती है, पक्षी के छोटे बच्चे को हाथ में बंद करो तो मरने का भय रहता है, मुट्ठी शिथिल करो तो उड़ जाते हैं इसी तरह से जीवन में समय है। समय को मजबूती से पकड़ते हैं तो समय फिसल जाता है क्योंकि जब पकड़ते हैं तो अपने हाथ ही मुट्ठी बने रह जाते हैं जैसे मुट्ठी को जितना कसकर बंद करो, बालू उतनी ही अधिक फिसलती है।

समय को सामने से पकड़ने की चेष्टा करते हैं तो पकड़ में आता है। व्यक्ति जान रहा है कि मेरा अनुकूल समय आ रहा है वह पहले से तैयार रहे तो समय का सदुपयोग कर सकता है। जैसे व्यक्ति प्लेटफॉर्म पर खड़े होकर गाड़ी का इंतजार करे तो जैसे ही गाड़ी आये तो वह बैठ सकता है। मुझे किस गाड़ी में बैठना है, यह बात सामने से आती गाड़ी को देखकर पहचान सकता है यदि गाड़ी आगे निकल जाती है तो पीछे से देखे तो दौड़कर पकड़ी नहीं जा सकती। ऐसे ही जो समय को पहचानते हैं वे सामने से आते समय का स्वागत करते हैं और समय को पकड़ लेते हैं और जो समय के पाबंद होते हैं वे व्यक्ति जीवन में निःसंदेह अच्छे प्रबंध करने में समर्थ होते हैं।

"होसले जिसके बुलंद होते हैं, अच्छे सपने उनकी मुट्ठी में बंद होते हैं।" दुनिया चाहे फिर कुछ भी कहे वे सब

कुछ कर सकते हैं जो समय के पाबंद होते हैं। आप भी अपने जीवन में समय के पाबंद बनो। समय की पाबंदी जीवन के पुष्प को सुगंधित करती है, समय की पाबंदी जीवन के सूर्य को प्रकाशित करती है। समय का सदुपयोग किये बिना जीवन का सूर्य अंधकारमय हो जाता है, जीवन पुष्प गंध रहित हो जाता है और जीवन प्राण रहित की तरह से हो जाता है।

इसलिये आप यदि सदुपयोग करना चाहते हो तो सर्वप्रथम समय का सदुपयोग करना सीखो। समय का सदुपयोग ही जीवन का सही सदुपयोग है और जीवन का सही सदुपयोग ही अपनी मंजिल की प्राप्ति है। मैं आप सभी के लिये भावना भाता हूँ कि आप सभी लोग समय का सदुपयोग करें, समय किसी का इंतजार नहीं करता, आप इंतजारी करें जैसे ही उचित समय आता है उस अवसर का सही लाभ लें तभी आप बुद्धिमान् कहे जायेंगे। आप सभी का मंगल हो, शुभ हो, कल्याण हो इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

निंदा का फल

महानुभाव! संसार में जिस प्राणी की जैसी भावना होती है, उस प्राणी को इस संसार के वृक्ष से वैसे ही फल मिलते हैं। संसार में सब कुछ है अच्छाई भी बुराई भी, सुख भी दु:ख भी, पाप भी पुण्य भी, दिन भी रात भी। महात्मापुरुष भी हैं तो दुष्टजन भी हैं। जिसको जो पसंद होता है वह उसी वस्तु को स्वीकार कर लेता है। अच्छे व्यक्ति अच्छे व्यक्तियों को खोज लेते हैं, अच्छाईयों को खोज लेते हैं, अच्छे कार्यों का अवसर खोज लेते हैं और बुरे व्यक्ति बुराई, बुरे लोग व बुरे कार्य के अवसरों को खोज लेते हैं। किसके पास कैसी चुम्बक है यह उस पर निर्भर करता है। किसी मैदान में पड़े लोहे के टुकड़ों को लोहे की चुम्बक खींच लेती है, यदि वे टुकड़े चाँदी के हैं तो संभव है कोई चाँदी की चुम्बक हो तो वह उसे खींच लेगी, सोने के टुकड़ें हों तो स्वर्णचुम्बक उन्हें अपनी ओर खींच लेगी।

संसार में किसी भी काल में अच्छे व्यक्तियों का पूर्णत: अभाव नहीं होता और न ही बुरे व्यक्तियों का पूर्णत: अभाव होता है। दोनों प्रकार के व्यक्ति हैं एक व्यक्ति वे हैं जो अच्छे व्यक्तियों की निंदा करते हैं, उनके गुणों की निंदा करते हैं, धर्म की निंदा करते हैं, अच्छाई की निंदा करते हैं। एक व्यक्ति वे हैं जो इसके विपरीत अच्छे व्यक्तियों की प्रशंसा करते हैं, अच्छे कार्य की, गुणों की, धर्म की व सत्स्थानों की प्रशंसा करते हैं। एक व्यक्ति वे हैं जो बुराई की निंदा करते हैं, बुरे कार्यों की निंदा करते हैं। संसार में सब प्रकार के लोग हैं अच्छाई को ग्रहण करने वाले भी, बुराई को ग्रहण करने वाले भी। आप सभी

जानते हैं अच्छाई सदा अच्छाई होती है, बुराई हमेशा बुराई होती है। अच्छे कार्य का फल अच्छा व बुरे कार्य का फल सदैव बुरा होता है।

मानवीयता के नाते, मानव में एक बात होनी चाहिये, वह धर्म का प्रारंभ बाद में करे, सबसे पहले तो वह निंदा का त्याग करे। निंदा एक ऐसा दोष है जिसमें विश्व के समस्त दोषों को ग्रहण करने की शक्ति है। निंदा एक ऐसा विशाल गर्त है जिस गर्त में विश्वभर के सभी दोष बहकर के नदियों के जल की तरह से आ जाते हैं। स्वनिंदा कथंचित् आत्महितकारी होती है, किन्तु परनिंदा नियम से अहितकारी होती है। वह स्व के लिये भी अहितकारी होती है और पर के लिये भी अहितकारी होती है। कोई भी धर्म, निंदा का व्याख्यान नहीं करता, कोई भी धर्म निंदा को धर्म नहीं मानता।

वास्तव में जो सच्चा धर्म है, वह अच्छाई का प्रस्तुतीकरण तो करता है किन्तु कभी बुरे व्यक्तियों की निंदा नहीं करता, उन्हें अच्छाईयों की ओर प्रेरित करता है, अच्छाईयों की व उसके गुणों की प्रशंसा कर उसे उसके कार्य में उत्साह प्रदान करता है। वह दूसरों को उनकी विशेषता बताते-बताते स्वयं गुणों का समुद्र बन सकता है। किसी के पास यदि एक अच्छाई है, निन्यानवें बुराई हैं तो एक अच्छाई की प्रशंसा करके, दूसरी अच्छाई के लिये प्रेरणा दी जा सकती है। इस तरह अच्छाईयाँ एक-एक करके आती जायेंगी, किन्तु निंदा करने से जिसके पास एक अच्छाई भी है संभव है, उसकी निंदा बार-बार करेंगे तो अच्छाई भी उसकी नष्ट हो जायेगी।

संसार में जितने भी बुरे व्यक्ति हैं वे वास्तव में पहले इतने बुरे नहीं थे, सबसे पहले उनमें एक बुराई का आविर्भाव हुआ था, संसार के लोगों ने उन्हें बुरा कहना प्रारंभ कर दिया, ये बुरा है, ऐसा है वैसा है। जो बुराई उसके अंदर थी वह भी कहना शुरु किया और जो बुराई नहीं थी उन्हें भी आरोपित करना शुरु कर दिया। वे व्यक्ति शनैः शनैः पतन की ओर चलते गये, बुराईयाँ उनमें आती गयीं और एक दिन वे बुराई की चोटी पर पहुँच गये। बुरे व्यक्तियों में श्रेष्ठ हो गये, कुख्यात हो गये। अच्छाई भी किसी व्यक्ति में मूलतः एक साथ नहीं आ जाती। ऐसा कोई समुद्र नहीं कि जिसमें एक साथ पूरा समुद्र भर जाये, पानी समुद्र में नदियों के सहारे से आता है, पानी आता जाता है और समुद्र में समाता जाता है और जब सूखता है तो ऐसा नहीं क्षण दो क्षण में सूख जाये, वाष्प बनकर सूखता है तो शनैः शनैः सूखता है। ऐसे ही किसी व्यक्ति में बुराई का एक साथ आविर्भाव नहीं होता, और एक साथ बुराई का नाश भी नहीं होता। अच्छाई का भी न एक साथ आविर्भाव होता है न नाश होता है।

महानुभाव! एक बात अवश्य है जब एक मुख्य अच्छाई नष्ट हो जाती है तो उसके आश्रय से रहने वाली छोटी-छोटी अच्छाईयाँ भी लुप्त हो जाती हैं, जैसे चन्द्रमा के अस्त होने से तारों का प्रकाश दिखाई नहीं देता, सूर्य का उदय होने से चन्द्र व तारे छिप जाते हैं। ये बात अलग है कि किसी व्यक्ति में बहुत सारी अच्छाईयाँ होते हुये भी कोई एक अच्छाई विशेष होती है, जिस पर उसके शुभचिंतकों को नाज होता है, जिसकी प्रशंसा वे मुक्त कंठ से करते हैं। किसी व्यक्ति में बहुत सारी बुराई हों, पर एक

बुराई बड़ी मुख्य होती है। समुद्र हो या आकाश आविर्भाव यदि करना है तो शनैः शनैः।

ऐसा कोई पेड़ आपने नहीं देखा होगा जो बीज बोते ही वृक्ष बन जाये, फल देने लग जाये और ऐसा भी आपने नहीं देखा होगा कि सूर्य का उदय होते ही, एक साथ उसका प्रकाश प्रचण्ड हो जाये। और ऐसा भी नहीं देखा होगा कि आकाश में हवा से छोटी सी बदली आये और सघन बादल भी न हों पाये कि पृथ्वी जल से भर जाये। बादल आते हैं, रिमझिम वर्षा होती है तब शनैः शनैः से प्रारंभ होकर जब मूसलाधार वर्षा होती है तब कहीं कूप-सरोवर आदि लबालब हो पाते हैं।

एक ही बूंद से समुद्र नहीं भरता, समुद्र क्या खेत भी नहीं भरता, एक कटोरी भी नहीं भरती किन्तु हाँ जब बूंद-बूंद गिरता चला जाता है तो घड़ा भी भर जाता है। ऐसे ही व्यक्ति में अच्छाईयाँ एक-एक करके आती जाती हैं और एक अच्छाई दूसरी अच्छाई को बुलाने के लिये निमंत्रण पत्र देती है, उसे खींच लेती है। जैसे एक अच्छा मित्र अपने अन्य मित्रों को भी अच्छे मार्ग पर ले जाता है। एक बुरा व्यक्ति अपने मित्रों को बुराईयों के मार्ग पर खींच कर ले जाता है। बुरा होना तो बुरा है ही, बुरा करना तो बुरा है ही किन्तु किसी की बुराई करना भी बुरा है। अच्छे व्यक्तियों की अच्छाई करना भी अच्छाई है, अच्छा व्यक्ति होना अच्छी बात है, अच्छे कार्य करना अच्छी बात है, अच्छी बातें बोलना अच्छी बात है, अच्छे शब्द सुनना अच्छी बात है, अच्छे विचार करना अच्छी बात है किन्तु इन सब अच्छाईयों के बारे में चर्चा करना भी अच्छी बात है।

जो शब्द आपको प्रिय नहीं लगते हैं उन शब्दों का प्रयोग दूसरे व्यक्ति के प्रति भी मत करो। आपके पास तो रसोईगृह है पाकशास्त्री बनों, शब्दों के व्यंजन, मिष्ठान्न बनाते हुये पहले स्वयं चखो फिर दूसरों के कर्ण में परोसो। जो तुम्हारे कर्ण के लिये प्रिय नहीं है उसे जबरदस्ती दूसरे के कान में मत डालो। अच्छे शब्द स्वयं के चित्त में भी सुख-शांति के कारक होते हैं और दूसरों के लिये भी। दूसरों के मुख में नमक देकर तुम्हें मिश्री का स्वाद नहीं आयेगा। यदि तुम दूसरों के लिये मिश्री जैसे शब्द बोलोगे तो तुम्हारे कानों में भी मिश्री जैसे शब्द सुनने को मिलेंगे। निंदा करना अच्छी बात नहीं, ये न कोई धर्म है, न किसी सफलता की कुंजी। जो सफलता की सर्वोच्च चोटी को छू रहे हैं उनका व्यक्तित्व देखिये उन्होंने किसी की निंदा नहीं की, अपितु अच्छे व्यक्तियों के गुणों की समय-समय पर प्रशंसा की और न केवल प्रशंसा की वरन् उन अच्छाईयों को व गुणों को स्वयं अपने जीवन में अंगीकार किया।

महानुभाव! हम कभी भी बुराई करते-करते अच्छाई के रास्ते पर नहीं चल सकते। जो व्यक्ति स्वयं अच्छाई के रास्ते पर चल रहा है किंतु दूसरों की बुराई कर रहा है वह व्यक्ति भी अच्छा नहीं है, हो सकता है आज या कल अच्छाई के रास्ते से फिसल जाये। पैर फिसल जाये तो वह गर्त में गिर जाता है और कई बार किसी व्यक्ति की जुबान फिसल जाती है तो व्यक्ति गर्त में नहीं महागर्त में ही चला जाता है। पैर फिसले व्यक्ति को गर्त से कोई निकाल सकता है किन्तु महागर्त नरक में गिरे व्यक्ति को कोई नहीं निकाल सकता है। इसलिये चलते समय पैरों को सावधानी से रखो इतना ही नहीं शब्दों को भी सावधानी से प्रस्तुत कीजिये।

जिसके पैर मजबूत होते हैं, अच्छे होते हैं उन पैरों से अच्छी गति की जा सकती है, किन्तु जिस व्यक्ति के शब्द अच्छे होते हैं उन शब्दों के माध्यम से स्वयं के और दूसरों के जीवन की प्रगति की जा सकती है।

चरण बाह्य मंजिल की ओर ले जाते हैं किन्तु आचरण हमें हमारे अंतरंग के लक्ष्य की ओर ले जाने वाला होता है। निंदा सबसे बड़ा पाप है। कहा जाता है कृतघ्न, निंदक और जो दूसरों को छलने वाला है ऐसे व्यक्तियों का प्रायश्चित नहीं होता। वे महापातकी कहे जाते हैं यहाँ तक कि शास्त्रों में कहा है जिसने गलत काम भी किया है तब भी उसकी सार्वजनिक निंदा नहीं करनी चाहिये अपितु उसे एकांत में जाकर के समझाना चाहिये।

दृष्टः सत्योऽपि दोषो न वाच्यो जिनमतश्रिता।
उच्यमानोऽपि चान्येन वार्यः सर्वप्रयत्नतः॥ प.पु. 232/106 सर्ग

यदि यथार्थ दोष भी देखा हो तो जिनमत के अवलम्बी को नहीं कहना चाहिए और कोई दूसरा कहता भी हो तो उसे सब प्रकार से रोकना चाहिए।

किसी व्यक्ति को रोग हो गया है, चौराहे पर खड़े होकर यह कहना कि ये रोगी है, उसके पोस्टर छापना इससे उसका रोग दूर नहीं होगा, अपितु उसका डॉक्टर के यहाँ उपचार करायेंगे तो वह निरोगी हो सकता है।

सामान्य व्यक्ति की निंदा, पशु-पक्षी की निंदा करना भी पाप है तो जो व्यक्ति धर्म की निंदा करते हैं, धर्मात्माओं की निंदा करते हैं, परमात्मा की, जिनवाणी की निंदा करते हैं वे निःसंदेह महापातकी कहे जाते हैं। आचार्यों ने लिखा है-

देवनिंदी दरिद्रीसा गुरुनिंदी च पातकी।
शास्त्रनिंदी च कुष्ठीसा, गोत्रनिंदी कुलक्षये॥

जो देवता की, परमात्मा की, भगवान् की निंदा करता है वह दरिद्र होता है, उसकी धन सम्पत्ति सब नष्ट हो जाती है। जो साधुओं की निंदा करता है वह महापापी होता है उसका शरीर नाना-रोगों का शिकार बन जाता है, उसका धन नष्ट हो जाता है, दुर्गति का पात्र बन जाता है। जो शास्त्र निंदा करता है वह कुष्ट रोगी बनता है नरकगति जाना चाहता है और जो अपने कुल-गोत्र की निंदा करता है वह अपने वंश का नाश करने वाला होता है।

जिसने भी देव निंदा की चाहे वह धन्यकुमार जिनके आपने पूर्व भव सुने हों तो जब वह ब्रह्मचारी के वेष में श्रेष्ठी के यहाँ गया, श्रेष्ठी उसे धन देकर विदेश चला गया। उस छद्मवेशधारी ने पूरा धन व्यसनों में लगा दिया और पुनः भगवान् की निंदा करने लगा, क्या होता है भगवान् की पूजादि करने से, इससे वह नरकादि दुर्गतियों को प्राप्त हुआ। उसका सब कुछ नष्ट हो गया, दीर्घकाल तक कुयोनियों में भटकता हुआ जब वह अकृतपुण्य हुआ तब उसके गर्भ में आते ही सब धन नष्ट होने लगा, पिता की मृत्यु हो गयी, माँ बेचारी विधवावस्था में उसका पालन पोषण करने के लिये, अपने गाँव को छोड़कर चली गयी। अपने नौकर के यहाँ उसने नौकरी की। कहने का आशय यह है जिसने भी भगवान् की निंदा की है ऐसा एक व्यक्ति भी नहीं मिला जो सुखी रहा हो।

लक्ष्मीमती जिसका विवाह सोम नामक ब्राह्मण से हुआ था। एक दिन संयोगवशात् एक समाधिगुप्त मुनिराज जो मासोपवासी

थे आहार के लिये उसके घर आए। वे मुनिराज अवधिज्ञानी, सर्वशास्त्र पारगामी, रत्नत्रय से विभूषित थे। उन मुनिराज का शरीर धूल धूसरित हो रहा था। जिस समय मुनिराज का आगमन हुआ उस समय लक्ष्मीमती अपने सर्वसुन्दर रूप को दर्पण में निहार रही थी। पीछे से मुनिराज का प्रतिबिम्ब उस दर्पण में प्रतिबिम्बित हो गया। वह रूप गर्विणी चिल्ला पड़ी- कौन है यह? कहाँ तो मेरा सुन्दर मनोज्ञ रूप और कहाँ इस मुनि की निन्दित काया, घृणित रूप। देखो तो इसका शरीर मैल और पसीना से कैसा लिप्त है, दुर्गन्धित है। मुनि निन्दा के प्रभाव से 7 दिन में लक्ष्मीमती का शरीर जो बहुत सुन्दर था वह उदुम्बर कुष्ट रोग से ग्रसित हो गया।

वह शरीर जिस पर उसे अभिमान था जिसके कारण उसने मुनिराज की निन्दा की, वह शरीर अत्यन्त घिनावना, दुर्गंधयुक्त हो गया। उसका पति उससे विरक्त हो गया तथा उसे घर से निकाल दिया। सभी लोग उसे अपशब्द कहकर भगा देते क्योंकि उसने मुनिराज से घृणा की तो सभी उससे घृणा करने लगे। उस असह्यनीय पीड़ा से व्याकुल हो एक दिन उसने अपने पति का स्मरण कर व आर्त्तध्यान से अग्नि में कूदकर अपना अन्त कर लिया पर मुनिनिन्दा के प्रभाव से वह मरकर उसी ब्राह्मण के घर छछूंदरी हुई। और पूर्वस्नेह के कारण वह बार-बार ब्राह्मण के ऊपर कूदती, ब्राह्मण ने क्रोध के कारण एक दिन उसे पकड़कर जमीन पर बड़ी दुष्टता से पटक दिया जिससे मरकर वह ब्राह्मण के घर साँप हुई। फिर मरकर गधी हुई।

पूर्व स्नेह वशात् वह गधी बार-बार ब्राह्मण के घर जाती सो एक दिन कुपित होकर ब्राह्मण ने एक जोरदार लाठी का प्रहार

किया और एक मोटा बड़ा पत्थर उसके ऊपर फैंक कर मारा जिससे उसका पैर टूट गया और उसमें कीड़े पड़ गये। जिसकी वेदना से वह गधी छटपटाने लगी और कुएँ में कूदकर आर्तध्यान पूर्वक मरण को प्राप्त हुई और फिर सूकरी हुई। जिसे गाँव के कुत्तों ने खा लिया फिर मरकर कुत्ती हुई। पापकर्म ने उसे अभी भी नहीं छोड़ा वह कुत्ती जहाँ बैठी थी उस घास में आग लग जाने से जिस घास में उसके बच्चे भी थे उनके मोह में वह भी उनके साथ वहीं जलकर मृत्यु को प्राप्त हुई। अभी तक भी उस पापिनी जिसने मुनिनिन्दा की थी उसका पाप समाप्त नहीं हुआ और वह एक धीवर के यहाँ पूतिका नाम की धारी (जिसके शरीर में से दुर्गंध आती थी) पुत्री हुई। महानुभाव! निन्दा का परिणाम निन्दा का फल कितना भयानक होता है ये हम लक्ष्मीमती को देखकर जान सकते हैं जिसने मुनिराज से अपशब्द कहे तो उसका परिणाम एक भव में नहीं अनेकों भव में उसने दुख को प्राप्त किया और बार-बार असह्यनीय वेदना को सह कर मृत्यु को प्राप्त किया इसलिये कभी भी हमें मुनिराज, साधुओं की निन्दा नहीं करनी चाहिये और न ही सुननी चाहिए कहा भी है-

गुरोर्वा स्वामिनो वापि कृतां निंदापरेण जो।
यः शृणोति न कुप्येच्च स पुमान् नरकं व्रजेत्॥

दूसरों के द्वारा की गई जो अपने गुरु अथवा स्वामी की निंदा को सुनता है तथा सुनकर कुपित नहीं होता वह पुरुष नरक जाता है।

एक साधक थे जिन्होंने भगवान् के गंधोदक का अपमान किया, उससे उन्हें कुष्ट रोग हो गया और कुमरण को प्राप्त हुये ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं जिन्होंने भगवान् की निंदा की

वे निःसंदेह राजन् जैसे वैभव से च्युत होकर के आज भिखारी जैसी जिंदगी जी रहे हैं। गुरुओं की निंदा करने वाले महापापी होते हैं जीवन में महादुःखों को प्राप्त होते हैं। समस्त अनुकूलता प्रतिकूलता में बदल जाती हैं। एक व्यक्ति भिण्ड में थे, हमने देखा गुरुनिंदा करने से उसे कुष्टरोग हुआ और बड़ी दर्दनाक मृत्यु को प्राप्त हुआ। राजाखेड़ा में एक व्यक्ति था, जो नगर सेठ कहलाता था वह भी गुरुनिंदा करने से आज दरिद्र जैसा व्यक्ति हो गया। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं जिन्होंने गुरुनिंदा की। विशालाक्षी व रंगरी-चामरी का जीव जिन्होंने मुनि निंदा व उपसर्ग किया जिससे अनेक कुयोनियों में भटकते हुये नरकादि कुयोनियों के दुःखों को प्राप्त किया, चाहे लक्ष्मीमती का जीव जिसने मुनिमहाराजों को कड़वी तुम्बी का आहार कराया। ऐसे अनेकों जन गुरुनिंदा करने वाले महापापी हुये और उन्होंने उस पाप का अत्यंत भयानक कष्ट भोगा।

शास्त्र वचनों की निंदा करने वाले व्यक्ति कुष्ट रोगी होते हैं चाहे वह श्री कंठ राजा का जीव हो 700 सैनिक साथ में थे आगम चक्षु साधुओं के नायक तथा भावश्रुतज्ञान की मूर्ति होने के कारण शास्त्रवन् प्रमाणभूत मुनिमहाराज की निंदा की तो वह उस धर्म वाक्य की निंदा करने के फल से श्रीपाल की पर्याय में कुष्ट रोगी हुये, 700 साथी भी कुष्ट रोगी हुये, पाप का फल भोगना पड़ा। राजा वसु सत्य का लोप किया वह नरक में चला गया जिन्होंने धर्म का, सत्य का लोप किया वे स्वयं ही लुप्त हो गये, दुर्गति को प्राप्त हो गये। जो अपने कुल की, गोत्र की, माता-पिता की निंदा करता है भाई-बंधुजन की, परिवार की निंदा करता है वह व्यक्ति अपने वंश का हंता होता है। इसीलिये

कभी किसी की निंदा मत करो, न साधु व गुरुओं की निंदा करो, न धर्मशास्त्रों की निंदा करो, न कभी अपने कुल-गोत्र की निंदा करो, सदैव अच्छाई की, अच्छे व्यक्तियों की प्रशंसा करो कहा भी गया है।

न भारा पर्वता भारा, ना भारा सप्त सागरा।
निंदका हि महाभारा, तथा विश्वास घातका॥

यह पृथ्वी कहती है मुझे अपने ऊपर पर्वतों का भार, भार नहीं लगता, और न सप्त समुद्रों का भार, भार लगता है वरन् इस पृथ्वी पर जो निंदक व विश्वासघाती जन हैं वे ही मेरे ऊपर भार स्वरूप हैं।

इसलिये महानुभाव! आप सभी अच्छाई के मार्ग पर चलें, किसी की निंदा न करें, अपनी आत्मा का कल्याण करें, व दूसरों के कल्याण में निमित्त बनें। ऐसी हम आपके प्रति मंगल भावना भाते हैं इन्हीं भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

तृण के समान क्या है?

महानुभाव! संसार में अनंत पदार्थ हैं, सभी पदार्थ सबको अच्छे नहीं लगते। कोई व्यक्ति किसी वस्तु को महत्त्व देता है, तो दूसरा व्यक्ति दूसरी को। एक व्यक्ति के लिये वही वस्तु बहुत महत्त्वपूर्ण है, दूसरे व्यक्ति के लिये वही वस्तु तृण के बराबर है। अपनी-अपनी दृष्टि, अपनी-अपनी सोच, नजरिया सबका एक नहीं हो सकता। जो जिस नजरिये से देखता है उसे वह वस्तु वैसी ही दिखायी देती है। ये जरूरी नहीं है कि जिसे अधिकांश व्यक्ति बहुत मूल्यवान् व महत्त्वपूर्ण समझते हों उसे सब व्यक्ति भी महत्त्वपूर्ण व मूल्यवान् समझें।

संसार में कोई व्यक्ति धन-वैभव को बहुत महत्त्वपूर्ण समझता है तो कोई ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जो इसे तृण के बराबर समझे। संसार में अधिकांश प्राणी एक तृण को तृण के बराबर समझते हैं, हो सकता है वह तिनका किसी व्यक्ति के लिये भगवान् से बढ़कर हो। जो आप सुनते हैं 'डूबते को तिनके का सहारा।' जिस डूबते व्यक्ति को तिनके ने डूबने से बचाया हो, उसके लिये वह तिनका भगवान् से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जिसके पास अरबों की सम्पत्ति है, और उस सम्पत्ति से बढ़कर उसे अन्य कोई चीज मिल गयी हो तो वह सम्पत्ति को छोड़ सकता है, जिसके पास कुछ भी नहीं है उसके पास रखे दो-चार खोटे सिक्के भी अरबों की सम्पत्ति से बढ़कर हो सकते हैं।

संसार में तृण के बराबर क्या है? किसके लिये कौन सी वस्तु तृण के बराबर प्रतिभासित होती है? तो एक दोहा आप सबने सुना होगा-

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
जीरण तृण सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

चक्रवर्ती के पास छः खण्ड का वैभव होता है, उसके पास 9 निधि, 14 रत्न, 96,000 देवांगनाओं के समान सुंदर रानियाँ होती हैं, हजारों की संख्या में पुत्र व पुत्रियाँ होती हैं। वह चक्रवर्ती इतने वैभव को प्राप्त करके फूला नहीं समाता है। वह तब तक फूला नहीं समाता है जब तक उसके पास सम्यक्दर्शन नहीं है। यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो गया, तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया तब उसे धन-वैभव में कोई रुचि नहीं रहती। इन्द्र की सम्पदा को कोई व्यक्ति देने के लिये आ जाये और वह किसी संत महात्मा से कहे- कि तुम अपने धर्म को छोड़कर के सामान्य प्रवृत्ति करना प्रारंभ कर दो, तो धर्म के प्रति अडिग व्यक्ति कहेगा "मुझे इनकी सम्पत्ति न चाहिये मैं धर्म को नहीं छोड़ सकता। मेरी दृष्टि में धन की कीमत तो जीर्ण तृण की तरह से है। मेरा धर्म तो मुझे शाश्वत आत्मवैभव दे सकता है।"

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि संसार में अनंत पदार्थ हैं तो अनंत प्रकार की दृष्टि वाले प्राणी भी निवास करते हैं। उनके नजरिये भी अलग-अलग प्रकार के होते हैं। आचार्यों ने, मनीषी विद्वानों ने इस संबंध में बहुत अच्छी बात कही-

उदारस्य तृणं वित्तं, शूरस्य मरणं तृणं।
विरक्तस्य तृणं भार्या, निस्पृहस्य तृणं जगत्॥

चार बातें यहाँ कहीं- **"उदारस्य तृणं वित्तं"** जो उदारमना है उसे संसार की कोई वस्तु लुभा नहीं पाती। जिसके चित्त में दूसरे प्राणी के प्रति करुणा का, दया का भाव है, जो दूसरे को

दुःखी नहीं देख सकता, दूसरे के दुःख को दूर करने के लिये अपने समग्र वैभव का क्षण भर में त्याग कर सकता है, ऐसे व्यक्ति के जीवन में धर्म का मूल्य होता है, उदारता का मूल्य होता है, उपकार का मूल्य होता है, दान का मूल्य होता है किन्तु इस पौद्गलिक मिट्टी के धन का कोई मूल्य नहीं होता। केवल इतना ही मूल्य होता है कि इसके माध्यम से यदि किसी का दुःख नष्ट हो, सुख की संप्राप्ति हो, धर्म से जुड़े, कर्म नष्ट हों तब वह उस धन का उपयोग करता है। यदि वह धन उस कार्य को करने में समर्थ नहीं है तो बस वैसे ही छोड़ देता है जैसे कोई रोगी व्यक्ति जो औषधि लाभ न होने पर उस औषधि को छोड़ देता है।

भारतीय संस्कृति में अनेकों राजा-महाराजा, अधिराजा, अर्द्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्द्धचक्री, चक्री, कामदेव, बलभद्र, तीर्थंकर आदि हुये जिन्होंने आत्मा के वैभव को एक बार भी देख लिया तो पुनः उस पौद्गलिक वैभव से अपना प्राण नहीं लगाया, मन नहीं लगाया। पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल जो दान के क्षेत्र में बहुत अग्रणीय रहे। एक बार उनकी माँ ने उनसे पूछा-बेटा! यदि ये सामने वाला पहाड़ 'मदारटूंगा' (जो आज भी है) पूर्णस्वर्णमय हो जाये, तो तेरे लिये दान देने के लिये कब तक का काम चल जायेगा? कुमार छत्रसाल कहते हैं- मैं सत्य कहूँ तो ये मदारटूंगा पहाड़ पूरा सोने का हो जाये, इतने बड़े-बड़े और भी पहाड़ सोने के हो जायें तो मेरे लिये एक जुबान का है, एक बार में, मैं इसे सम्पूर्ण दान कर सकता हूँ, ले जाने वाला जितने दिनों में ले जाये, ये उस पर निर्भर करता है।

भरत चक्रवर्ती जब महामह पूजन करते थे, अखंड घंटानाद, मंगलनाद होता था और वहाँ कोई भी याचक आ जाये उन्हें किमिच्छिक दान दिया जाता है, जो कुछ भी माँगो वही तुम्हें प्राप्त होगा। चामुण्डराय का नाम आपने सुना होगा जो महाराज राजमल्ल के सेनापति थे। अपनी माँ की भावना को पूर्ण करने के लिये आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व भगवान् बाहुबली स्वामी का विशाल उत्तुंग जिनबिंब का निर्माण कराया। उन्होंने शिल्पकार के लिये कहा- तुम मन लगाकर काम करना, यह हमारे श्रद्धा के भगवान् बनेंगे। इस जिनबिंब के लिये, अपनी श्रद्धा के लिये हम अपना सब कुछ दे सकते हैं। तुम अपने मन में कोई लोभ लालच मत करना। शिल्पकार से कह दिया जितना अनावश्यक पत्थर तुम इसमें से निकालकर अलग करोगे उतना धन मैं अनावश्यक समझकर तुम्हें तौलकर दे दूँगा। फिर अंत में रह जायेगी आवश्यक मूर्ति और मेरी श्रद्धा। मैं पुद्गल को आत्महित का कारण नहीं मानता, मेरी आत्मा के गुण ही मेरे आत्महित के कारण हैं।

एक बार शिल्पकार के मन में लोभ आ गया, पत्थर कम निकल रहा है तो उसने थोड़ा ज्यादा पत्थर निकालने की चेष्टा की, उसे आकाशवाणी हुयी, उसकी माँ को स्वप्न आया, इस प्रकार छल करना ठीक नहीं है, इतना सारा धन लेकर के क्या करोगे। चामुण्डराय की माँ गुल्लिका जी ने अपने पुत्र से कहा- लगता है बेटा पत्थर कम निकल रहा है, शिल्पकार को धन कम मिल रहा है, इसे तुम दुगुना कर दो। चामुण्डराय ने धन दुगुना-चौगुना किया बढ़ाता गया। ये बात चामुण्डराय की उदारता का प्रतीक थी।

राजस्थान के दानवीर 'भामाशाह' का नाम आपने सुना होगा। महाराणा प्रताप जिस समय प्रतिकूलता का सामना कर रहे थे, यवन तब राजस्थान में अपनी विजय पताका फहरा रहे थे, चित्तौड़ के किले पर उनकी दृष्टि गयी उन्होंने उसको भी घेरने की चेष्टा की। महाराणा प्रताप की सेना उससे मुकाबला न कर सकी इसलिये महाराणा प्रताप को जंगलों में भी रहना पड़ा। पहले तो सोचा जैसे अन्य राजपूतों ने अपने किले दे दिये, क्या हम भी अपने किले दे दें और यवनों से संधि कर लें।

ये समाचार जब दानवीर भामाशाह के पास पहुँचा, तो उनके पास कई पीड़ियों से संग्रहित धन था, क्योंकि उनकी एक विशेष जिनमंदिर बनवाने की योजना थी। इसीलिये वह धन रखा हुआ था। अनुकूल समय की इंतजारी थी। वे स्वयं महाराणा प्रताप के पास पहुँचे और स्वर्ण मुद्राओं से भरे हुये संदूक के संदूक सामने रख दिये, कहा महाराज! आपने जन्मभूमि की रक्षा की है आप हिम्मत न हारें, धन के अभाव में आप यहाँ जंगल में गुजारा कर रहे हैं जिससे आप युद्ध करने की भी नहीं सोच पा रहे हैं। महाराज! ये धन भी आप ही का है। महाराज ने कहा- यह धन तो आपके पिताजी का है, तुम्हारी पीढ़ियों का संग्रह किया हुआ है। जिनमंदिर की भावना से संग्रहित किया गया है। भामाशाह ने कहा- महाराज हमारा देश सुरक्षित रहेगा तो मंदिर भी सुरक्षित रहेंगे, जब देश ही सुरक्षित न रहेगा, हमारी जन्मभूमि ही सुरक्षित न रहेगी तब मंदिर बनाकर हम क्या करेंगे? ऐसे थे उदारभावना से युक्त वीरभामाशाह।

आगे कहा **'शूरस्य मरणं तृणं'** जो शूरवीर होता है, वह युद्ध में अपनी आन-बान-शान के लिये, मर्यादा के लिये, धर्म

की रक्षा के लिये, धर्म के आयतनों की रक्षा के लिये, जननी जन्मभूमि की रक्षा के लिये अपने प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं। स्वतंत्रता की क्रांति जब चल रही थी तब हजारों-लाखों व्यक्तियों ने स्वतंत्रता की अग्नि में अपनी आहूति दे दी। और कुछ तो ऐसे महानुभाव रहे जो फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते चढ़ गये किन्तु उन्होंने परतंत्रता स्वीकार नहीं की। यदि तिरंगा फहराया तो उतारा नहीं भले ही तुम हमारे सिर उतार लो किन्तु हम अपना तिरंगा उतारेंगे नहीं। ऐसे भी शूरवीर रहे जिन्होंने अपने देश के लिये, धर्म के लिये सर्वस्व त्याग करने का साहस किया। शूरवीर को बस एक ही चीज दिखाई देती है, जिस कार्य का संकल्प ले लिया वह उसे पूर्ण करके ही रहता है।

आगे आचार्यों ने लिखा है- **'विरक्तस्य तृणं भार्या'** जो संसार-शरीर-भोगों से विरक्त हो गया है उसके लिये स्त्री तृण की तरह से है। फिर चाहे वह सर्वांग सुंदर देवांगना हो। महाराज सुकुमाल जिनकी बत्तीस देवकन्या जैसी स्त्रियाँ थी जब उन्हें वैराग्य हुआ तब वे सब कुछ छोड़कर चले गये। जिन्होंने जीवन में सूर्य का प्रकाश व दीपक का प्रकाश नहीं देखा, रत्नों के प्रकाश में रहने वाले एक क्षण में अपनी बत्तीस रानियों को छोड़कर चले गये, मोह से आविष्ट माँ को भी छोड़ दिया। सब रास्ते बंद थे फिर भी महल के पीछे से, रस्सी बाँधकर चले गये और जाकर यथाजात दिगम्बर बन गये।

वारिषेण कुमार के ऊपर जब उपसर्ग आया, वे श्मशान में ध्यान, सामायिक करते थे। किसी चोर ने उनके सामने रत्नहार फेंक दिया। उन्हें राजा श्रेणिक के समक्ष प्रस्तुत किया गया कि ये ही चोर हैं। उन्होंने संकल्प ले लिया जब तक मेरे ऊपर

उपसर्ग है तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा, न कोई शब्द बोलूँगा। यदि उपसर्ग से मैं दूर हो गया तो पाणिपात्र में ही आहार लूँगा अर्थात् दिगम्बर साधु बनकर अंजुलि में ही आहार ग्रहण करूँगा। उनका उपसर्ग दूर हुआ, देवों ने रक्षा की, वे मुनि बन गये। उनके साथ उनके मित्र पुष्पडाल मुनि भी थे। पर वह पुष्पडाल अपनी कानी पत्नी में आसक्त था, तब वारिषेण मुनि ने उन्हें समझाया, आप क्यों अपनी स्त्री में आसक्त होते हो, साधु के लिये कहाँ आसक्ति। वे उसे अपने त्याज्य महल की ओर ले गये, वहाँ देवांगनाओं के समान सुंदर स्त्रियाँ थी, उनको दिखाकर कहा- बताओ तुम्हें कौन-सी रानी चाहिये, पुष्पडाल को होश आया, अरे अभी मैं कहाँ विषयों में पड़ा हुआ था पुनः विरक्त होकर सच्ची साधना करते हैं।

महानुभाव! जो कोई भी विरक्त होता है वह संसार-शरीर-भोगों को तृणवत् छोड़कर के आगे बढ़ जाता है। आगे कहा- **'निस्पृहस्य तृणं जगत्'** यह सारा संसार ही निस्पृही व्यक्ति के लिये तृण के समान है। उसके सामने सम्पूर्ण स्वर्ग का वैभव भी लाकर रख दो तब भी उसे इच्छा नहीं होती, चाहे सुन्दर कन्यायें हों, या सुंदर कामदेव सा तन दिया जाये उसे रत्तीभर भी उनके प्रति ग्रहण की इच्छा नहीं होती। तीर्थंकर प्रभु समवशरण के वैभव को प्राप्त करके उससे चार अंगुल ऊपर रहते हैं। देव उनके विहार में स्वर्णकमल रचना करते हैं, फिर भी वे विरक्त रहते हैं। जम्बूस्वामी जिन्होंने विवाह के अगले दिन ही दीक्षा ले ली, चाहे विजय-विजया हों ऐसे कितने उदाहरण हैं जिन्होंने व्रतों का पालन किया। जो निस्पृह व्यक्ति होता है वह पापों से विरक्त होता है, संसार से विमुख होता है, देह सुख व भोगों से विरक्त होता है।

महानुभाव! तो तृण के समान क्या है? हो सकता है किसी के लिये तृण के समान धर्म हो, देव-शास्त्र-गुरु होते हों वह व्यक्ति संसार में दीर्घकाल तक भ्रमण करता है और दूसरी ओर धर्मात्मा व्यक्ति वह होता है जिसके लिये संसार के भोगोपभोग तृणवत् होते हैं। आप सभी धर्म को बहुमूल्य मानें, उसे ही अपने जीवन में सबसे ज्यादा स्थान दें, अन्य सभी चीज को अल्प मूल्य मानकर स्थान दें। इसी में आपका हित संभव है। इसी प्रकार की भावनायें आपके प्रति रखते हुये अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देता हूँ।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

उत्कृष्ट का चुनाव

महानुभाव! जीवन में हमें कई बार ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं जिस समय हमें यथेष्ट वस्तु का चुनाव करने का अवसर प्राप्त होता है। हम दो रास्ते के बीच में खड़े हों तो अवसर प्राप्त होता है कि इस रास्ते पर चलें या उस रास्ते पर। दो वस्तु सामने होती हैं तो चुनाव करने का अवसर प्राप्त होता है कौन सी चुनें। कई बार हमारे सामने दो विकल्प आते हैं और प्रायःकर के प्रत्येक व्यक्ति उन दोनों विकल्पों में से उत्कृष्ट का ही चुनाव करता है। उस समय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अनुकूलता से जो उत्कृष्ट प्रतीत होता है उसे चुन लेते हैं। मध्यम को भी नहीं, जघन्य को भी नहीं।

अच्छाई अच्छी होती है, अच्छी बात है किन्तु अच्छाईयों से भी बढ़कर संसार में कुछ अच्छा होता है, उस अच्छे से भी अच्छे को प्राप्त करने वाले व्यक्ति संसार में बहुत कम होते हैं। आप जानते हैं बुराईयों का अनुपात बहुत अधिक है, बुराईयों को करने वाले, कहने वाले, सोचने वाले बहुत हैं। किन्तु अति अत्यल्प प्रतिशत अच्छाई को ग्रहण करने वाले, सुनने वाले और आचरण में लाने वाले होते हैं। उससे भी अत्यल्प जन जो अच्छाई का निचोड़ निकालते हैं उस अच्छाई की भी अच्छाई को ग्रहण करने का भाव रखते हैं और जो सबसे अच्छा है, ऐसी उत्कृष्ट वस्तु को तो संसार में कोई उत्कृष्ट व्यक्ति ही प्राप्त कर पाता है।

उत्कृष्ट वह है जो उत्कृष्टता को प्राप्त कर ले, उत्कृष्टता वह है जो उत्कृष्ट व्यक्ति के पास हो। बुराई वह है जो बुरे

व्यक्तियों के पास रहती है, बुरे व्यक्ति वे हैं जिनके पास बुराईयों का खजाना है। अच्छाई वह है जो अच्छे व्यक्ति से शोभा को प्राप्त होती है, अच्छे व्यक्ति वे हैं जो अच्छाई से शोभा को प्राप्त होते हैं। अच्छे से अच्छे व्यक्ति वे हैं जिनके पास अच्छाईयों का भी सार है। प्रत्येक व्यक्ति अच्छाई को ग्रहण करने की कोशिश करता है तो कई बार लगता है कि अच्छाई भी सोचती होगी कि मैं किस अच्छे व्यक्ति के पास पहुचूँ, वह भी चुनाव करती होगी। अच्छाई जिसका चुनाव करके आती है नि:संदेह वह व्यक्ति अच्छा होता है, जो व्यक्ति अच्छाई का चुनाव करता है उस समय वह अच्छा माना जाता है। कदाचित् वह बुराई का चुनाव कर ले, किसी दूसरे विकल्प में, फिर वह व्यक्ति उतना अच्छा नहीं रह पाता।

आप न केवल जीवन में अच्छाईयों का चुनाव करते रहो, अपितु आप इतने अच्छे बन जाओ कि अच्छाई तुम्हारा चुनाव करने के लिये तुम्हारे पास आ जाये। जीवन में जब भी आवश्यकता हो, जब भी अवसर मिले तो आप अपने जीवन में उत्कृष्ट का चुनाव करने की कोशिश करना। एक तात्कालिक उत्कृष्ट होता है, एक दीर्घकालिक उत्कृष्ट होता है। दो मार्ग समाने हैं एक मार्ग 10 कदम तक ठीक है बाद में पूरा खराब है, दूसरा मार्ग 10 कदम तक खराब है बाद में सब ठीक है। जो तात्कालिक उत्कृष्ट को चुनते हैं वे प्रारंभिक 10 कदम अच्छे वाले मार्ग को चुनकर के आगे बढ़ जाते हैं किन्तु जो थोड़ा सोच-समझकर के निर्णय लेते हैं वे 10 कदम क्या, 100 कदम बुरे मार्ग को भी चुन लेते हैं फिर बाद में यावज्जीवन सुखद राह और मंजिल की प्राप्ति करते हैं।

महानुभाव! कई बार व्यक्ति सत्ता, प्रभुता, वैभव, यौवन पाकर के इतना मदमस्त हो जाता है कि दूसरों की सलाह व राय तृण के समान प्रतिभासित होती है। वह समझता है, वही सब कुछ हो गया जो निर्णय उसने जिस आवेश में ले लिया चाहे प्रेम के आवेश में, चाहे क्रोध के आवेश में, चाहे बैर के आवेश में, चाहे घृणा के आवेश में, चाहे लोभ के आवेश में जिस किसी आवेश में निर्णय ले लेता है उसे अपना सर्वमान्य निर्णय मानता है। हम आपसे कहना चाहते हैं निर्णय जब भी लें शांत चित्त से लें। आवेश में लिये गये निर्णय संभव है बाद में पश्चाताप के कारण बन जाते हैं। **"अपनी किस्मत पर इतना गुरूर मत कर, ओ खुदा के बंदे! हमने बरसते पानी में भी महलों को जलते देखा है।"**

ये ना सोचो कि आज आपके पास सब कुछ है, ध्यान रखना एक क्षण में कुछ का कुछ हो जाता है। इतिहास साक्षी है, भारतीय इतिहास में दो नगरियाँ ऐसी रहीं जो जल के मध्य बसीं थी, एक लंका दूसरी द्वारिका कोई और नगरी अग्नि की लपटों से स्वाहा हुयी हो या नहीं हुयी हो किन्तु ये दोनों नगरी अग्नि की लपटों से स्वाहा हो गयीं। जल में रहकर के भी जल गयीं। जब पाप का उदय आता है तब ऐसा ही हो जाता है। पुण्य का उदय आता है तो जल में भी नगरी बन जाती है, आसमान में भी नगर बस जाता है, प्रतिकूलता भी अनुकूलता बन जाती है।

ध्यान रखो यदि आज तुम सबसे आगे हो, ध्वजा लेकर आगे चल रहे हो, हाथ में चाहे किसी भी शासन का ध्वज हो, किसी भी यूथ का ध्वज हो, किसी भी आम्नाय या पंथ का ध्वज हो, आप सबसे आगे चलने वाले लीडर हो किन्तु इस पद, हुकूमत,

सत्ता का कभी भी अहंकार मत करना। परेड जब होती है तो एक क्षण में कहा जाता है, 'पीछे मुड़' तब जो व्यक्ति सबसे आगे होता है, वह सबसे पीछे हो जाता है, और जो सबसे पीछे होता है वह सबसे आगे हो जाता है।

महानुभाव! कभी भी आपकी किस्मत आपको कह सकती है, 'पीछे मुड़'। हो सकता है कभी जब आप सबसे आगे चल रहे हो तो सबसे पीछे भी हो जाओ। आपने स्वयं भी देखा होगा बड़े-बड़े राजा सम्राटों को जब भी कर्म का उदय होता है तब भिक्षावृत्ति भी नहीं मिलती, माँगने से भी भीख नहीं मिलती और आपने इतिहास में, साहित्य पुराणों में यह भी पढ़ा होगा कि कोई भिखारी वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ था, हाथी ने आकर अभिषेक कर दिया, गले में माला पहना दी और वह वहाँ का राजा हो गया ऐसा भी हो सकता है, कोई बड़ी बात नहीं।

यदि कभी जीवन में मंत्र का चुनाव करने का अवसर आये क्योंकि मंत्र वह शक्ति पुंज होते हैं जिससे असंभव कार्य भी संभव किया जा सके। मंत्र चाबी की तरह होते हैं चाबी छोटी सी दिखाई देती है किन्तु सारे महल का राज खोलने वाली भी वही होती है, उसके बिना महल में प्रवेश नहीं। मंत्र छोटे अणु की तरह से होते हैं अणु बहुत बड़ा विस्फोटक हो जाये तो संहारक भी हो सकता है और उसे मानवहित में उपयोग किया जाये तो मानव जाति का उत्थान करने वाला उद्धारक भी हो सकता है।

मंत्र के बारे में कहा कि मंत्र वही सर्वश्रेष्ठ होता है जिस मंत्र में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार न किया गया हो। मंत्र वही श्रेष्ठ होता है जिसमें कभी कोई याचना-वांछा-कामना न

हो। मंत्र वही श्रेष्ठ होता है जिसमें विश्व की सम्पूर्ण उत्कृष्ट शक्तियों को प्रणाम किया गया हो। मंत्र वही श्रेष्ठ होता है जिसमें शाश्वत शक्तियों के प्रणाम की या उनकी उपासना की बात कही हो। इसलिये मंत्र के बारे में अनेकों मनीषी विद्वानों आचार्यों ने एक ही बात कही कि यदि कोई उत्कृष्ट मंत्र है तो वह 'णमोकार मंत्र' है। णमोकार को महामंत्र कहते हैं-

नमस्कारसमं मंत्रं, वीतराग समं प्रभं।
सम्मेदाचलसमं तीर्थं न भूतो न भविष्यति॥

मानव के जीवन में तीन चीज की आवश्यकता पड़ती है रोटी-कपड़ा और मकान। भोगने के लिये वस्तु चाहिये, उपभोग की वस्तु चाहिये और ठहरने के लिये स्थान चाहिये। ये तीन तो परमावश्यक हैं। भोजनादि एक बार जो भोगने में आ गया वह दुबारा भोग नहीं सकते, वस्त्राभूषण, बाह्यादि उपभोग की वस्तुयें हैं और ठहरने के लिये स्थान। ऐसे ही तीन चीजें यहाँ भी कह रहे हैं।

मंत्र- मंत्र का प्रयोग कर सकते हैं अपने मन को सही गति देने के लिये। अपने मन को सही लक्ष्य का भान कराने के लिये। मंत्र आपको लक्ष्य की ओर इंगित करता है। मंत्र के माध्यम से आपको आत्मा का वैभव दिखाई देता है कि आपका शाश्वत धन क्या है, आपकी निजी पूँजी क्या है, आप कौन हो ये आपको मंत्र के माध्यम से अवगत होता है। ये मंत्र हकीकत का भान कराने वाले होते हैं। **"लोग व्यर्थ में ही घरों में रखते हैं आइने, अपनी हकीकत तो आँख बंद करके भी जानी जा सकती है।"**

कौन व्यक्ति अपने बारे में नहीं जानता, आइने में अपना चेहरा जो बाहरी रूप से दिख रहा है क्या वह वास्तव में तुम हो? क्या वह वास्तव में तुम्हारी सत्यता है। आप दिन भर में कितने चेहरे बदलते हो लगता है तुम्हारे बदलते चेहरे को देखकर मौसम भी शर्माता होगा। तुम्हारे बदलते चेहरे की स्पीड को देखकर तो गिरगिट भी बेचारा अपनी पराजय मान लेता है। जितनी जल्दी आकाश में बादल उड़ते हुये नहीं बदल पाते उससे ज्यादा तीव्र गति में आपके चेहरे बदल जाते हैं और आपके मन के भाव बदल जाते हैं। शायद नदी-तालाब में लहरें इतनी जल्दी नहीं बदलती जितनी जल्दी आप बदल जाते हैं। इसीलिये किसी कवि ने कहा-

धुला दूध का कौन है, किसके पग नहीं पंख।
कुछ गिरगिट के बाप हैं, कुछ बिच्छु के डंक॥

संसार में जो एक दूसरे पर कीचड़ उछालने की कोशिश करते हैं, उन्हें एक बार अपने अंदर में झाँक कर देख लेना चाहिये, अपनी आँख बंद करके अपनी तस्वीर देख लेनी चाहिये, शायद फिर वे कभी जीवन में किसी दूसरे पर कीचड़ उछाल न पायें। सामने वाले की जब एक गलती दिखाई देती है, यदि आँख बंद करके देखें नि:संदेह शतगुनी-सहस्रगुनी-लक्षगुनी गलतियाँ तुम्हें अपनी दिखायी दे जायेंगी। यदि आँख ईमानदारी से बंद करके देखोगे तो।

महानुभाव! यहाँ कहा उत्कृष्ट मंत्र है 'णमोकार मंत्र'। जीवन में कभी आपका समय अनुकूल भी होता है, कभी प्रतिकूल भी होता है, कभी धूप तो कभी छाया, कभी उदय तो कभी अस्त

होता है उन स्थितियों में व्यक्ति घबराये नहीं अपना हौंसला बुलंद रखें। घबराने की आवश्यकता नहीं है, नदी की धार की तरह से यह समय भी बह जायेगा। हिम्मत हारना कायरों का काम होता है वीर प्राणी हिम्मत नहीं हारते। फिर भी क्या करें, किसका सहारा लें? जिस नाव का सहारा लेते हैं वह डूब जाती है, जिस किनारे पर बैठते हैं वे किनारे ही टूट जाते हैं, जिस शाख पर पक्षी बैठता है वह शाख भी टूट जाती है। शाख को दोष क्या दें जब समय की आँधी चलती है तो सब धराशाही हो जाता है इसीलिये हम आपसे एक बात कहते हैं जीवन में चाहे कितना भी अनुकूल समय आ जाये, कितनी भी आपको विभूति प्राप्त हो जाये, चाहे कितना ही प्रतिकूल समय आ जाये, आप दीन-हीन अवस्था को प्राप्त हो जायें, मृत्यु के मुख में पड़े हों तब भी निरंतर महामंत्र का जाप करते रहिये। इस णमोकार महामंत्र से आप सुख में वृद्धि करोगे और दु:खों को नष्ट करने में समर्थ हो जाओगे। लौकिक व पारलौकिक कोई कार्य ऐसा नहीं है जो इस महामंत्र की आराधना के द्वारा सफलतापूर्वक किया न जा सके। जैसा कि कहा है-

मन्त्रं संसारसारं त्रिजगदनुपमं सर्वपापारिमन्त्रं,
संसारोच्छेदमन्त्रं विषमविषहरं कर्मनिर्मूलमन्त्रम्।
मन्त्रं सिद्धिप्रदानं शिखसुखजननं केवलज्ञानमन्त्रं,
मन्त्रं श्री जैनमन्त्रं जय जय जपितं जन्मनिर्वाणमन्त्रम्॥

यह नमस्कार मंत्र संसार में सारभूत है, तीनों लोकों में इसकी तुलना के योग्य दूसरा कोई मंत्र नहीं है, समस्त पापों का यह शत्रु है, संसार का उच्छेद करने वाला है, भयंकर से भयंकर विष को हर लेता है, कर्मों को जड़मूल से नष्ट कर देता है,

सिद्धि-मुक्ति का दाता है, मोक्ष सुख व केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाला है अतः इस मंत्र को बार-बार जपो क्योंकि यह जन्म परंपरा को समाप्त कर देता है।

जैनागम णमोकार मंत्र की महिमा एवं चमत्कारी प्रभाव से परिपूरित है। मरणासन्न कुत्ता, जीवन्धर द्वारा णमोकार मंत्र का श्रवण कर सुदर्शन यक्ष हुआ। जलते नाग-नागिन, पार्श्व कुमार द्वारा मंत्र श्रवण के प्रभाव से धरणेन्द्र-पद्मावती हुए। कराहता बैल, पद्मरुचि सेठ द्वारा मंत्रशक्ति के अचिन्त्य प्रभाव से वृषभध्वज नामक राजपुत्र हुआ। यह सेठ आगे चलकर राम व वृषभध्वज सुग्रीव हुआ। जिसके पीछे मृत्यु दौड़ रही थी ऐसा अंजन चोर इस महामंत्र की आराधना से अनेक विद्याओं का अधिपति हुआ व तद्भवमोक्षगामी हुआ। मृत्यु की निकटता को प्राप्त बकरा चारुदत्त द्वारा प्रदत्त मंत्र को शान्तिपूर्वक सुनता-सुनता देवगति को प्राप्त हुआ।

दूसरी बात आपसे कहना चाहते हैं कि संसार में कोई भी व्यक्ति किसी को देवता मानकर पूज सकता है, पूजे हमें एतराज नहीं किन्तु यदि आपको उत्कृष्ट वैभव चाहिये, आत्मा का वैभव चाहिये तो राग-द्वेष से संलिप्त देवताओं को छोड़कर वीतराग देवों की शरण को प्राप्त करना चाहिये। जो स्वयं राग-द्वेष से सहित संसार की दशा से युक्त हैं वे आपको ज्यादा से ज्यादा संसार का वैभव दे सकते हैं। यदि आपको संसार का वैभव चाहिये तो खूब पूजें, किन्तु आपको आत्मा का वैभव चाहिये तो वीतरागता की शरण में आना ही पड़ेगा। जो घातिया कर्म से रहित, परमवीतरागी, अनंत चतुष्टय से सहित हैं, जो पृथ्वी से 5000 धनुष ऊपर रहते हैं, समवशरण में विभूति होती है किन्तु

वे उन सबसे विरक्त आत्मा में लीन, ऐसे वीतरागी जिनेन्द्र की उपासना करनी चाहिये।

तीसरी बात कही- व्यक्ति को कभी कोई सा स्थान अच्छा लगता है, वह कभी कहीं जाता है कभी कहीं। यदि आपको अपना मन शुद्ध करना है, तो सम्मेदगिरि के समान कोई दूसरा तीर्थ नहीं है। इस भरत क्षेत्र में प्रलयकाल भी आ जाये तब भी अयोध्या और सम्मेदशिखर जहाँ पर हैं वह कभी नष्ट नहीं होते, वहाँ पर शाश्वत स्वस्तिक के चिह्न होते हैं। वह सम्मेद ऐसा तीर्थ है जहाँ से प्रत्येक काल में चौबीस तीर्थंकर तो मोक्ष जाते ही हैं, इसके साथ-साथ उनके साथ में असंख्यात् मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया। इस हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से 20 तीर्थंकरों ने यहाँ से निर्वाण को प्राप्त किया। उस सम्मेद शिखर जी की भाव सहित वंदना करो। आचार्यों ने कहा है- 'न भूतो न भविष्यति' ये तीन चीज ऐसी हैं इन तीन के समान न कोई था, न है, न हो सकेगा।

महानुभाव! ये तीन रत्न हैं जो आपके बालपन, यौवन और वृद्धापन को सार्थक करने वाले हैं। बाल्यावस्था से णमोकार मंत्र का जाप आपके कान में दिया जाता है, युवावस्था में वीतरागी भगवान् की उपासना और वृद्धावस्था में संन्यास के साथ सम्मेदशिखर जी पहुँचकर अपने शरीर का परित्याग करो। ये ही आत्महित का शाश्वत मार्ग दिखाई देता है। मैं समझता हूँ इससे ही आपका-हमारा कल्याण संभव है। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

कौन हो पथ प्रदर्शक

महानुभाव! जीवन अनेकों प्रकार की विचित्रताओं से भरा हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी टोकरी में अनेक प्रकार के पुष्प हों या अनेक प्रकार के फल हों। या किसी बर्तन में अनेक प्रकार के धान्य भर दिये हों। अथवा अनेक प्रकार के रंगों से युक्त कागजों का समूह रखा हो, या अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त कोई उद्यान हो, ऐसे ही हमें हमारा जीवन प्रतीत होता है। कुछ वर्ण अच्छे भी लगते हैं, कुछ अच्छे नहीं भी लगते। किसी पुष्प की गंध अच्छी भी लगती है किसी की नहीं भी लगती है। इन विविधताओं के बीच में हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचना है।

मार्ग में कभी अनुकूलता भी मिलती है, तो कभी प्रतिकूलता भी, मार्ग में मंजिल नहीं होती और मंजिल में मार्ग नहीं होते। मार्ग जब तक चलता जाये, तब तक राही को चलते रहना चाहिये, राही जहाँ थक जाता है बस उसका रास्ता वहीं समाप्त हो जाता है। राही को ऐसा होना चाहिये कि वह थके नहीं, राह आकर के स्वयं साष्टांग प्रणाम करके कहे कि बस अब आगे राह नहीं है, तुम्हारे अंदर आगे बढ़ने का जोश-उत्साह तो है किन्तु अब राह नहीं है। मंजिल चाहे कितनी भी ऊँची क्यों न हो किन्तु चलने वाले अदम्य साहसी राही के कदमों के नीचे ही होती है।

महानुभाव! राह चलते समय भी एक सहारे की आवश्यकता तो होती है। कोई किसी भी क्षेत्र में जाये, यदि कोई उसके लिये आदर्श रूप सामने होता है, पथ प्रदर्शक सामने होता है, आगे चलने वाला व्यक्ति उसे प्रेरणा देता जाता है तब रास्ता सुगम हो जाता है। चाहे आप जीवन में किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ें, कोई

विद्या के क्षेत्र में, व्यवसाय के क्षेत्र में, कृषि क्षेत्र में, खेल के क्षेत्र में, समाज सेवा के क्षेत्र में किसी भी क्षेत्र में आगे बढ़ेंगे, यदि आप एक आदर्श स्थापित करके चलेंगे तब आप वहाँ तक पहुँच जायेंगे। निरुद्देश्य आगे बढ़ने वाला व्यक्ति कहीं भी भटक कर रह सकता है, कहीं भी विश्राम करने बैठ सकता है। जब सामने मंजिल दिखाई देती है तब थकान होते हुये भी थकान दिखाई नहीं देती बस ऐसा लगता है थोड़ी सी और रह गयी। जब मंजिल नहीं होती है तो तुरंत थकान आ जाती है। जब आप कहीं तीर्थयात्रा के लिये जाते हैं, सामने लक्ष्य दिखाई देता है तो आप पहुँच जाते हैं, यदि ये सोच लें जहाँ पहुँच गये वहीं ठीक है तब निश्चित नहीं है कि आप कहाँ पहुँचेंगे।

महानुभाव! आचार्यों ने लिखा है कि जो पथप्रदर्शक होता है सन्मार्ग दर्शक होता है वह गुरु की तरह होता है। गुरु दो अक्षरों से बना हुआ है गु+रु। नीतिकार कहते हैं-

गुशब्दस्त्वंधकारे च, रु-शब्दस्तन्निवर्तकः।
अंधकार विनाशित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते॥

गुरु शब्द में 'गु' अंधकार का प्रतीक है 'रु' उसको नाश करने वाला। जो हमारे अंतरंग के अंधकार को नष्ट करने वाला है वह हमारा गुरु कहलाता है। ग+उ+र+उ 'ग'- जो गरिमा युक्त हो, 'उ'-उन्नतशील हो, 'र'-रहस्य, 'उ'-उद्घाटक अर्थात् जो स्वयं गरिमावान् हो, गरिमा आती है ज्ञान से, आचरण से, चर्या से और अगम्य वस्तु की संप्राप्ति से। जो गरिमावान् है, गंभीर है, गुणों में सागर की तरह से है, धीर-वीर है और स्व-पर के लिये उन्नति कारक है। जो आत्मा के सभी रहस्यों को, विश्व के सभी रहस्यों को जानने वाला है। वह केवल जानकर अपने पास नहीं रखता

है वरन् उन सब रहस्यों का उद्घाटक भी है, वह गुरु कहलाता है।

गुरु जिसका रक्षक है, जिस पर गुरु की छत्रछाया है, वह व्यक्ति निराकुलता के साथ अपनी यात्रा तय कर लेता है।

जाके रक्षक गुरु हरि, करि का सके कोई और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥

जिसकी रक्षा में गुरु निरन्तर तत्पर हैं, उसका कौन बाल बाँका कर सकता है। जैसे कोई बड़ा पक्षी अपने छोटे बालक को अपने पंखों में छिपा लेता है तब उस छोटे की सुरक्षा हो जाती है। चाहे शिकारी बड़े पक्षी का शिकार करे किन्तु जीते जी वह छोटा बच्चा मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। ऐसे ही गुरु अपने जीते जी अपने समीपस्थ, अपने शरणागत, भक्त और शिष्य पर आँच नहीं आने देते। वह स्वयं सहन कर लेते हैं। गुरु की तपस्या और पुण्य की इतनी बड़ी छत होती है कि सारा विश्व भी उसके नीचे आश्रय पा सकता है।

महानुभाव! आचार्यों ने लिखा है "सर्वान् श्रेयान् गुरोराज्ञा" गुरु की आज्ञा सबसे श्रेष्ठ होती है। जो गुरु की आज्ञा का पालन करते हैं उन्हें कुछ ज्यादा सोच-विचार करने की आवश्यकता नहीं। जिनके पास गुरु नहीं हैं उन्हें सौ बार नहीं हजार बार सोचना चाहिये किन्तु जब गुरु ने आज्ञा दे दी तब एक बार भी सोचने की आवश्यकता नहीं। 'गुरोराज्ञा गरीयसी' गुरु की आज्ञा ही महा विभूति को देने वाली होती है, कल्याण को करने वाली होती है, रक्षा करने वाली होती है। सम्पूर्ण कल्याणों की यदि कोई जड़ है तो गुरु आज्ञा है। किन्तु वे गुरु सबको आज्ञा नहीं देते। वे उपदेश देते हैं, निर्देश देते हैं, प्रवचन देते हैं। उनके सत्संग में बैठकर के भव्य जीव उनकी पुण्य वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं।

आज्ञा का आशय है आप्त के ज्ञान तक पहुँचाने का मार्ग। आ+ज्ञा। आप्त ज्ञान, आप्त के ज्ञान तक पहुँचाने की विधि आज्ञा कहलाती है। गुरु की आज्ञा सर्वकल्याणों की कुंजी है। जैसे कुंजी के माध्यम से ताला खुल जाता है, वैसे यदि कोई ताले को रस्सी बाँधकर खींचे, चाहे हाथ से खींचे किन्तु ताला ऐसे खुलता नहीं, यहाँ तक कि कई बार वह चोट-पर चोट मारता जाये तब भी ताला तोड़ने वाला पसीना-पसीना हो जाता है। वे ताले हथोड़े की चोट से बड़ी देर से खुलते हैं। किंतु चाबी असली हो, नकली न हो तभी ताला खुल सकता है। कोई व्यक्ति नकली चाबी से ताला खोलना चाहे तो हो सकता है चाबी उलझ जाये, फँस के रह जाये।

एक बार हथौड़े और चाबी की मानो वार्ता हुयी। माना कि हथौड़ा चाबी से कहता है, मैं बहुत शक्तिशाली हूँ मैंने बड़ी-बड़ी चट्टानों को तोड़ा है लोहे के टुकड़े-टुकड़े कर देता हूँ, लोहे का गोला भी मेरी चोट खाकर चद्दर जैसा हो जाता है। किन्तु ताले को तोड़ने में बहुत मेहनत करनी पड़ती है, और तुम हो सहजता में जाती हो और क्षणभर में खोल देती हो। चाबी ने कहा- तुम कहते तो ठीक हो, पर बात ये है कि ताला भी तुम्हारी जाति का है, और मैं भी तुम्हारी जाति की हूँ, हम तीनों ही एक जाति के हैं किन्तु अपनी जाति का व्यक्ति कोई चोट मारता है, तो बहुत कष्ट होता है।

अपने सगे की चोट नहीं सही जाती। किसी दुकान पर लुहार लोहा पीट रहा था, दूसरी जगह स्वर्णकार सोना पीट रहा था, किन्तु हथौड़ी दोनों जगह लोहे की थी। सोने का टुकड़ा उचट करके आया, कहा मैं इतना उत्कृष्ट सोना होते हुये भी लोहे से

पिट रहा हूँ, इसीलिये मुझे विकल्प आ रहा है। लोहे ने कहा- तू क्यों दु:खी हो रहा है, सगे की चोट सही नहीं जाती। तू तो विजाति से पिट रहा है, विजाति से पिटने में इतना दर्द नहीं होता जितना अपनों से पिटने में दर्द होता है। अपनी-अपनी समझ है कोई अपनों से पिटकर निखर जाता है। सोना लोहे को समझाता है, देख तू जंग लगा हुआ लोहा था अपने से पिटकर अब तू शुद्ध बनकर के अच्छा यंत्र औजार बन सकता है और मैं विजाति से पिटकर आभूषण का रूप ले लेता हूँ। दु:ख तुझे भी नहीं करना, मुझे भी नहीं करना, फिर भी संसार की रीति है कि अपनों की चोट सहन नहीं होती।

तो ताला हथौड़ी की चोट सहन करके भी टूटने को राजी नहीं और चाबी ताले को चोट नहीं मारती वह ताले के हृदय में पहुँच जाती है। वह पहले मिड में पहुँची, कुछ सैकेण्ड के लिये वहाँ ठहरी, स्थान जब पूरी तरह से पा लिया, तब चाबी ने उसके हृदय में बैठकर के रहस्यों को खोलना प्रारंभ किया। तब ताला अपने आप खुल गया। न ताले ने आवाज की, न चाबी ने। सहजता में खुल गया।

गुरु महाराज चाबी की तरह से होते हैं जो आत्मा के रहस्यों को खोलने वाले होते हैं। गुरु महाराज जीवन में तत्त्वज्ञान देने वाले होते हैं, गुरु महाराज को कुंभकार भी कहा जाता है जो कलश में से खोट निकालकर के मंगल कलश बना देते हैं। गुरु महाराज को माली भी कहा जा सकता है जो सूखते वृक्षों को हरा भरा कर देते हैं और एक बीज बोकर के बड़े वृक्ष को बना देते हैं। गुरु महाराज को एक नाविक की तरह कहा जाता है जो नाव को पार करते हैं, इतना ही नहीं गुरु महाराज तैराक भी हैं

नाविक तो नाव ही चलाता है यदि वह तैराक नहीं है तो नाव टूटने पर स्वयं डूब जायेगा, और नाव पर बैठने वाले भी डूब जायेंगे। गुरु महाराज तो तैराक की तरह हैं यदि नाव नहीं है तो वह तैराक कंधे पर बिठाकर पार करा देगा।

गुरु महाराज तो पथ प्रदर्शक होते हैं, जैसे समुद्रों में जहाज चलते हैं, समुद्रों में सामने लाइट होती है जिसे देखकर जहाज चलते हैं। गुरु महाराज का स्थान नि:संदेह सर्वोपरि है इसीलिये कहा 'सर्वान् श्रेयान्गुरोराज्ञा' गुरु की आज्ञा सबसे श्रेष्ठ है सर्वकल्याण करने वाली है। 'सर्वविघ्नविनाशिनी' वह सभी विघ्नों का नाश करने वाली है। जैसे सूर्य का उदय होते ही अंधकार का नाश हो जाता है, ऐसे ही गुरु आज्ञा का पालन करने से सम्पूर्ण विघ्नों का नाश संभव है।

एक बार किसी एक राजा ने दूसरे राजा पर चढ़ाई कर दी। राजा ने चढ़ाई अचानक ही की थी। दूसरे राजा की कोई युद्ध की तैयारी नहीं थी। उसे गुप्तचरों के माध्यम से ज्ञात हुआ कि उस राजा की सेना अपनी सेना से दुगुनी है। वह घबराया और उसे समझ नहीं आया कि वह क्या करे। तब उसे याद आयी अपने गुरु महाराज की। वह अपने गुरु महाराज के पास पहुँचा और सारी बात कही। गुरु महाराज ने सारी बात ध्यान से सुनी और कुछ औषधि राजा के हाथ में थमाते हुए कहा ये एक-एक गोली अपने प्रत्येक सैनिक को दे देना, बहुत कमाल की गोली है। राजा ने बहुत श्रद्धा से उसे स्वीकार किया और इस विश्वास के साथ की गुरु महाराज ने गोली दी है तो विजयी होंगे ही, चल दिया। प्रत्येक सैनिक ने युद्ध से पूर्व उस गोली को खा लिया। दोनों सेनाएँ आमने-सामने कुछ दूरी पर रुकी हुईं थीं।

रात्रि के अंतिम पहर में सभी सैनिक निवृत्त होने निकले। इधर गुरु महाराज ने जो गोलियाँ दी थीं वे जमालघोटे की थीं। एक-एक सैनिक कई बार निवृत्त होने जाने लगा। राजा से एक व्यक्ति बोला अरे महाराज! ये कैसी गोलियाँ दी थीं आपके गुरु महाराज ने, हमारी सेना की रही सही शक्ति भी चली गई।

उधर दूसरे राजा की सेना तो पूर्ण निवृत्त हो गई किन्तु इधर सैनिक बार-बार जा रहे थे। शत्रु राजा के पास सूचना पहुँची महाराज! हमें गलत सूचना मिली थी कि इनके सैनिक संख्या में कम हैं। अरे! उनकी तो इतनी बड़ी सेना है कि 3 बजे से उन्होंने निवृत्त होना शुरु किया था अभी तक निवृत्त हो रहे हैं यह सुन राजा युद्ध का विचार छोड़ सेना को ले वापिस लौट गया और यहाँ राजा का राज्य बच गया।

महानुभाव! जीवन में कभी कोई विघ्न आये तो गुरु आज्ञा का पालन करो, गुरु के संकेत से चलो। तीर्थंकर भी अपने गुरु बनाते हैं। कोई भी महापुरुष होते हैं वे गुरु बनाते हैं बिना गुरु के कोई आगे नहीं बढ़ता। गुरु के पदचिह्नों पर चलकर मंजिल कितनी भी दूर हो, वह चलकर पहुँच सकता है। वह गुरु आज्ञा नित्य ही सन्मार्ग को दिखाने वाली होती है यदि हम रास्ता भटक रहे हैं तो गुरु का संकेत हमें सद्मार्ग दिखाता है। वे ऐसे निशान हैं जिन्हें देखकर हम चल सकते हैं। 'मनसाऽपि न लंघयेत्' गुरु आज्ञा का कभी मन से भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये। जब तक शरीर में प्राण रहें, जब तक बुद्धि तुम्हारी ठीक काम करती रहे तब तक गुरु आज्ञा का उल्लंघन करने का भाव भी मन में नहीं लाना चाहिये।

गुरु ही साहस भरते हैं आकाश को छूने का। **"सीढ़ियाँ उन्हें मुबारक हों जिनका लक्ष्य छत पर पहुँचना है, हमें तो आकाश तक जाना है, रास्ता स्वयं बनाना है।"** वह रास्ता बनाते हैं हमारे गुरु। आध्यात्मिकता का मार्ग आकाश की तरह से होता है इसलिये हम आकाश मार्ग पर बढ़ें। जो व्यक्ति आगे नहीं बढ़ता है वह व्यक्ति कहीं न कहीं धोखा जरूर खाता है। गुरु के संकेत मील के पत्थर हैं, ध्रुव सत्य हैं।

जीवन में जिसे गुरु नहीं मिला, समझ लेना वह सबसे ज्यादा दुर्भाग्यशाली है। जिसे जीवन में गुरु मिल गया और कुछ नहीं मिला समझें उसने संसार की समस्त शक्ति व वैभव को प्राप्त कर लिया और अब कुछ और प्राप्त करने की उसे आवश्यकता नहीं है। महानुभाव! अंत में यही कहना चाहता हूँ- गुरुओं के द्वारा कहा गया यदि एक शब्द भी जीवन में आ गया तो उम्र भर गुरु, गुरु का चित्र, उनकी छवि आप अपने हृदयपटल से मिटा नहीं पाओगे। जो छवि हृदय में बस जाती है वह कभी अलग नहीं की जा सकती। गुरु की प्रथम छवि यावज्जीवन रहती है।

महानुभाव! आप भी अपने नयनों में अपने गुरु का चित्र बसाइये और अपने हृदय कमल में गुरु को स्थान दीजिये आपका जीवन सुगंधित, सुवासित, सुहावना हो जायेगा। ऐसी भावना आपके प्रति रखते हैं इन्हीं भावनाओं के साथ...।।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥

धैर्य

महानुभाव! आचार्यों ने आत्मकल्याण के अनेक-अनेक भाषाओं में, अनेक-अनेक प्रकार की शैलियों में, सरल से सरल सुबोध शब्दों में जो सूत्र दिये हैं, यदि एकान्त में बैठकर हम दो-चार बातों का भी चिन्तन मनन करते हैं तब ये बात सत्य है कि क्षण भर के लिए ही सही शांति का अनुभव तो होता है। चाहे कोई व्यक्ति अपनी जिह्वा पर शक्कर का एक दाना भी रखे, फिर भी वह दाना खारा स्वाद नहीं देता। एक दाना भी मीठा स्वाद ही देता है। चाहे अग्नि की चिंगारी छोटी-सी ही क्यों ना हो वह जलाने का काम करती है। ऐसे ही जिनवाणी के बहुत सारे शब्द नहीं बल्कि दो-चार शब्द भी यदि हमारे चिन्तन में चलते रहते हैं, मन मस्तिष्क में तैरते रहते हैं तो निःसंदेह वह हमारी आत्मा में सुखद अनुभूति ही कराते हैं। जैसे-आकाश में जब बादल मँडराते रहते हैं तो सूर्य की तपन पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों को नहीं लगती। ऐसे ही हमारे जीवन में जिनवाणी के शब्द चित्त के क्षितिज पर जब तैरते हैं तो वे शब्द हमारी आत्मा की तपन को भी कम करते हैं, हमारी आत्मा में भी सुख-शांति की अनुभूति दिलाते हैं।

महानुभाव! धैर्य एक ऐसा शब्द है जो जीवन में कितनी भी प्रतिकूलतायें आयें उन सभी का समाधान है। संसार में ऐसा कोई विघ्न, बाधा, प्रतिकूलता नहीं है जो धैर्य को लाँघकर आगे निकल जाए। धैर्य का बाँध इतना सघन है कि प्रतिकूलता की नदी उसे तोड़ नहीं सकती। जिन व्यक्तियों का धैर्य का बाँध जितना मजबूत होता है वे जीवन में कभी हताश, उदास, निराश

नहीं होते। उनके पास हमेशा सफलता घूमती रहती है, किन्तु जो व्यक्ति अधीर होने लगते हैं तो प्राप्त की हुई सफलता भी उनके हाथ से निकल जाती है। धैर्यशील व्यक्ति मझधार में होकर भी किनारे को देख लेता है और पुनः किनारे को प्राप्त कर लेता है। अधीर व्यक्ति किनारे पर पहुँचकर भी जब धैर्य छोड़ देता है तो पुनः किसी नदी या कूप में डूब जाता है। धैर्य जीवन का एक ऐसा अभिन्न अंग है जिसका सुख शांति से सीधा संबंध है।

धैर्य के साथ जो भावनायें होती हैं वह भावनायें बहुत बलवती होती चली जाती हैं। "धैर्य" जब प्रार्थना के साथ होता है अर्थात् जब आप प्रभु परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं और उसका फल आपको मिलता दिखाई नहीं दे रहा तो कुछ लोग यह कहते दिखाई देते हैं कि "भगवान् की खूब पूजा की, भक्ति की, अर्चना की फिर भी क्या मिला हमें कुछ नहीं मिला, वे अधीर होकर मार्ग से च्युत हो जाते हैं उन्हें वास्तव में कुछ नहीं मिल पाता। जैसे किसी ने एक साल में लगभग 11 महीने पढ़ाई की किन्तु एग्जाम (परीक्षा) के समय स्कूल ही ना जाए तो उसे ना कोई प्रमाण पत्र मिलेगा और ना कोई पुरस्कार। वह जिस कक्षा में पड़ा है, वहीं पड़ा रहेगा। ऐसे ही कोई किसान अपने खेत में फसल बोए, जो फसल 120 दिन में आती है वह 100 दिन में नहीं आ सकती, किन्तु किसान सोचे कि मेरे खेत में 100 क्विंटल अनाज होना है मुझे उसमें से आज ही 10 क्विंटल मिल जाए" ऐसा नहीं हो सकता। यदि वह धैर्य धारण करे तो उसे 100 क्विंटल अनाज मिल सकता है। धैर्य बहुत बड़ी चीज है-

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होए।
माली सीचें सौ घड़ा, ऋतु आवै फल होए॥

हे भद्र पुरुष! तुम धैर्य धारण करो, धैर्यता काम बनाने वाली है, अधीरता काम को बिगाड़ने वाली होती है जिसने भी अपने जीवन में धैर्य धारण किया है उसने सफलता को प्राप्त किया है, चाहे वह सामान्य पुरुष हो चाहें विशेष, चाहे वह पढ़ा-लिखा हो चाहे अनपढ़, चाहे वह व्यक्ति लोकमान्य हो चाहे लोकनिन्द्य। चाहे जहाँ भी व्यक्ति धैर्यता के साथ अपने परिश्रम को लगातार करता रहा, सफलता उसके चरणों तक आ गई।

आप भी अपने कार्य में लगे रहे, धीरता के साथ लगे रहे तो इसका परिणाम यह रहा कि आज आपके सामने भगवान् श्री शांतिनाथ जी का जिनबिम्ब स्थापित हुआ। "हारिये ना हिम्मत बिसारिये ना राम"। हिम्मत के हारने से हार होती है, सेना के हारने से नहीं। हिम्मत के साहसी होने से विजय होती है। जिस व्यक्ति में जीतने की हिम्मत है, उत्साह है, साहस है, विश्वास है उसे संसार की कोई शक्ति नहीं हरा पाती।

महानुभाव! आप भी अपने काम में हिम्मत हार जाते हैं तो कई बार आया हुआ लाभ भी हानि में परिवर्तित हो जाता है और जब आप हिम्मत नहीं हारते हैं तो हानि के स्थान पर भी लाभ प्राप्त हो जाता है। किसी साहित्यकार से पूछा कि "तुम धैर्य के बारे में बहुत चर्चा करते हो, कि धैर्य धारण करो, धैर्य के बिना सफलता नहीं मिलती" क्या धैर्य से सफलता मिल जाएगी? तब साहित्यकार ने कहा कि "अवश्य"। पूछा यदि ऐसा है तो छलनी में पानी भरकर दिखाओ, कैसे भरोगे? साहित्यकार बोला "मैं धैर्य धारण करूँगा"। कब तक? जब तक टैम्प्रेचर 0 डिग्री पर ना आ जाए क्योंकि 0 टेम्प्रेचर आते ही पानी जमकर बर्फ हो जाएगा और छलनी में पानी भर जाएगा। इतना धैर्य धारण करना

है कि स्वयं प्रकृति भी तुम्हारे धैर्य की प्रशंसा ही ना करे बल्कि तुम्हारे धैर्य का फल देने के लिए स्वयं उपस्थित हो जाए।

महानुभाव! जब हमारी प्रार्थना में धैर्य होता है तब यह प्रार्थना हमारी आस्था को सुदृढ़ बनाती है। आप अपनी स्वयं की समीक्षा करें कि आप पूजन, भक्ति, स्तुति आदि करते हैं किन्तु 1-2 दिन तो अत्यधिक उल्लास रहता है फिर 2-4 दिन बाद वह उल्लास ठंडा पड़ गया तब कहते हो कि मेरे वश की बात नहीं भगवान् तो मेरी सुनते नहीं। जब व्यक्ति ऐसा अधीर हो जाता है तो समझो उसकी आस्था कमजोर है, उसकी आस्था के पिलर कमजोर हैं। जब आस्था के पिलर कमजोर होते हैं तब मंजिल चाहे कितनी भी ऊँची हो एक दिन उसे धराशायी होना ही होना है। इसलिए यदि आस्था के पिलर सुदृढ़ बनाने हैं तो उसका एक ही उपाय है "धैर्य", प्रार्थना धैर्य के साथ करो। जैसे जीने के लिए प्राणवायु की आवश्यकता होती है वैसे ही प्रार्थना के लिए धैर्य की परम आवश्यकता होती है। प्राणवायु के बिना जीवन चल नहीं सकता। उसी प्रकार धैर्य के बिना प्रार्थना सफल नहीं हो सकती।

प्रार्थना में धैर्य आता है तो आस्था को सुदृढ़ बनाता है, यदि भावना में धैर्य आता है तो आत्मविश्वास को जगाता है। भावना भाने से जब एक सामान्य मनुष्य तीर्थंकर बन सकता है तब मैं भावना के बल से अपने कार्य में सफल क्यों नहीं हो सकता। नि:संदेह भावना में धारण किया गया "धैर्य" आत्मविश्वास को नया रूप देता है, आत्मविश्वास सुदृढ़ हो जाता है, आत्मविश्वास ऐसा मजबूत हो जाता है मानो वज्र का परकोटा बना दिया हो। भावनाओं के साथ उतावलापन नहीं, भावना में आवेश, उत्तेजना

नहीं, भावनाओं में उत्कर्ष, अपकर्ष नहीं। भावनायें हों तो शनैः शनैः हों, जैसे नदी का पानी शनैः शनैः बहता जाता है तो स्वतः ही रास्ता बनता जाता है। पत्थरों का बहुत बड़ा ढेर क्यों न लगा हो तो भी नदी कभी परवाह नहीं करती वह कहीं न कहीं से रास्ता निकाल ही लेती है। वह कभी रास्ता जोड़ती नहीं आगे बढ़ती जाती है और जब बढ़ती जाती है तो समुद्र तक पहुँच ही जाती है। आप सभी भावना भाते हैं तो वह भी शनैः शनैः पूर्ण होती जाती है। कोई भी भावना हो चाहे व्यापार वृद्धि की, चाहे मोक्षमार्ग में बढ़ने की, चाहे अणुव्रती, महाव्रती बनने की भावना हो, यदि धैर्य धारण करते हो तो भावना निःसंदेह साधना के शिखर तक ले जाती है। भावना आत्मविश्वास को सुदृढ़ बना देती है सुमेरु पर्वत की तरह।

महानुभाव! धैर्य भावना के साथ होता है तो आत्मविश्वास सुदृढ़ होता है किन्तु वही धैर्य जीवन में ज्ञान के साथ आता है तो ध्यान बन जाता है। ज्ञान की वृद्धि करते-करते यदि अधीर हो गए अहंकार आ गया तो अज्ञानी से ज्यादा दुर्गति हो जाती है। ज्ञान के साथ ज्यों-ज्यों धैर्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ज्ञान में ध्यान बढ़ता चला जाता है। ज्ञान में स्थिरता ही ध्यान कहलाता है। "अज्झयणमेव झाणं" अध्ययन ही ध्यान है। जैसे उबलते पानी में कोई अपना चेहरा नहीं देख सकता, वही पानी जब ठहर जाता है तो उस पानी में चेहरा देखा जा सकता है। ऐसे ही ज्ञान जब स्थिर हो जाता है तब निःसंदेह वह आत्मा के मल को प्रक्षालित करने में समर्थ हो जाता है। वह ज्ञान, ध्यान बन जाता है और वह ध्यान सुख-शांति के श्रोतों को उद्घाटित करने वाला होता है।

यदि वह धैर्य संयम के साथ होता है तब वह "साधना" बन

जाता है। संयम का पालन मन-वचन-काय से कर रहे हो किन्तु अधीरता से पाल रहे हो तो अधीरता से पालन किया गया संयम विराधना की ओर ले जाता है। धैर्य के साथ पाला गया संयम साधना के उच्च शिखर तक पहुँचाने वाला होता है।

वही धैर्य यदि व्रतों के साथ आ जाता है तो संयम बन जाता है। जब वही धैर्य निस्पृहता के साथ आ जाता है तो 'समता' का प्रादुर्भाव करने वाला होता है।

धैर्य शक्कर की तरह से है, उस शक्कर को यदि आटे में मिला दो तो उससे बने पकवान मीठे हो जाते हैं, दूध में मिला दो तो दूध मीठा हो जाता है, खीर, हलुआ, शिकंजी, मावा आदि किसी में मिला दो तो वह पदार्थ मीठा हो जाता है। जितनी शक्कर बढ़ती चली जाती है उस पदार्थ में उतनी मिठास बढ़ती जाती है। इतना ही नहीं वह शक्कर यदि नमक और मिर्ची से मिल जाए तो नमक के खारेपन को और मिर्ची के चरपरेपन को भी कम कर देती है।

धैर्य जीवन का अभिन्न अंग बन जाना चाहिए। सुख-शांति के लिए इससे अच्छा अन्य कोई दूसरा साथी तुम्हें मिल नहीं सकता। घर में जितने भी कलह-क्लेश, झगड़े, वाद-विवाद होते हैं वह सब अधीरता के कारण। यदि एक पक्ष भी धैर्य धारण कर ले तो 95% कलह-क्लेश बंद हो सकती है, किन्तु बात तो यह है कि एक पक्ष ने कुछ कहा तो दूसरा पक्ष आग-बबूला हो जाता है, तब घर का झगड़ा बढ़ता चला जाता है, उस पर नियन्त्रण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। पुनः बहस करते-करते इतनी बढ़ जाती है कि चिंगारी महाज्वाला का रूप ले लेती है, उस महाज्वाला को कन्ट्रोल कर पाना बड़ा कठिन होता है। फिर

तो कोई शब्द नियन्त्रण के बोले भी जायें हितकारी बोले भी जायें, कई बार वह अच्छे शब्द भी पेट्रोल का काम कर जाते हैं। उससे ज्वाला भड़क उठती है फिर छोटे-बड़े का लिहाज भी नहीं रहता क्योंकि विवेक नष्ट हो जाता है और क्रोध आकर अहंकार से हाथ मिला लेता है।

क्रोध और अहंकार एक-एक ग्यारह हो जाते हैं फिर वह आत्मा का जितना पतन करें उतना कम है। पर्वत की चोटी से एक व्यक्ति को यदि दो व्यक्ति मिलकर धक्का दें तो वह चोटी से गिरकर कितने नीचे आ सकता है कह नहीं सकते। धीरता के अभाव में क्रोध और अहंकार दोनों का अधीरता से गठबंधन हो जाता है तब वहाँ से आत्मा का पतन प्रारंभ हो जाता है। आत्मा के सुख-शांति-शक्ति इत्यादि गुण एक-एक करके सब चले जाते हैं।

अहंकारी झुकता नहीं, रावण की तरह से ज्यों की त्यों रहता है। चाहे रावण के भाई कुम्भकर्ण को बंधन में डाल दिया, विभीषण छोड़कर चला गया और पुत्र भी मृत्यु को प्राप्त हो गए, सब कुछ नष्ट हो गया। कुम्भकर्ण ने रावण को समझाया फिर भी रावण ने कहा कि "कुम्भकर्ण! उपदेश देने की आवश्यकता नहीं, तू तो राक्षस वंश की रक्षा कर।" कुम्भकर्ण ने कहा भाई! मैं आपके आदेश को टाल नहीं सकता किन्तु आप जानते हैं कि ये दोनों "नारायण और बलभद्र हैं। अहंकार में रावण बोला" कि चाहे कोई हो मैंने जो ठान लिया वही सही है। कुम्भकर्ण बोला "भाई! सही ही सही होता है। यदि कोई अहंकार में गलत को सही कहता है तो वह सही नहीं होता किन्तु अहंकारी के साथ में जो पुण्य होता है वह चला जाता है। भाई! मैं जा रहा हूँ।"

रावण ने कुम्भकर्ण का तिलक किया। कुम्भकर्ण जाते-जाते कह गया कि "या तो मैं शाम तक शत्रु पक्ष को मृत्यु के घाट पहुँचाकर राम-लक्ष्मण दोनों के मस्तक आपके चरणों में रख दूँगा" किन्तु भईया! यदि मैं युद्ध में मारा गया तो आप निश्चित समझ लेना कि वे दोनों नारायण और बलभद्र हैं, उनसे सन्धि कर लेना, नहीं तो समझ लेना आपकी मृत्यु निश्चित है।

महानुभाव! हमारे जीवन में भी कई बार कुम्भकर्ण की तरह से हमारा पवित्र मन हमें समझा रहा है, कई बार विभीषण की तरह से हमारी आत्मा हमें समझाती है। कई बार कभी हम एकान्त में बैठते हैं तो जिनवाणी के सद्वाक्य याद आते हैं, कई बार हमारा अन्तःकरण हमें धिक्कारता है, हम चोट-पर-चोट खाते चले जाते हैं, हम बड़बड़ाते रहते हैं, किन्तु न जाने कितने हटाग्रहों के बंधनों से बँधते चले जाते हैं कि हम उन अन्दर की गाँठों को नहीं खोल पाते। अन्दर की गाँठ को वही खोल सकता है जो अन्दर में बैठा है। हमारे अन्दर हमारा आत्मा बैठा है अर्थात् हम स्वयं ही उन गाँठों को खोल सकते हैं अन्य कोई नहीं। बाहर की गाँठ तो कोई भी खोल सकता है, अन्दर आत्मा में या मन में गाँठ है उसे खोलने का प्रयास हमें स्वयं करना होगा। बाहर वाला तो हमें समझा सकता है कि भईया गाँठ को खोल लो। वह कहता रहे कि मेरे पास गाँठ है ही नहीं। जब गाँठ शरीर में पड़ जाती है और डॉक्टर से छिपाकर रखी तो गाँठ पुनः पक जाती है उसमें पस पड़ जाती है। तब उसमें चीरा लगाना पड़ता है उस समय बहुत कष्ट होता है और सहजता में गाँठ पहले ही घुल जाए तो ज्यादा अच्छा है।

जो गाँठ अंदर में घुल जाए और रस्सी में पड़ी गाँठ खुल

जाए तो इससे अच्छी बात तो संसार में कोई है ही नहीं। गाँठ को काटने से रस्सी के दो टुकड़े तो कम से कम हो ही जाते हैं, और 3-4 भी हो सकते हैं, पुनः रस्सी छोटी हो जाती है उसे जोड़ने के लिए गाँठ में गाँठ लगानी पड़ती है। और शरीर में गाँठ पड़ी हो तो डॉक्टर उसे काटकर निकालता है तब शरीर को सुखद नहीं विकट अनुभूति होती है। कुछ भी हो, गाँठ कभी अच्छी नहीं होती।

भगवान् महावीर स्वामी को बौद्ध ग्रन्थों में णिग्गंथ बुद्ध कहा अर्थात् जिसके पास अन्दर बाहर में विकारादि 18 दोषों की गाँठ नहीं। जिनके अन्दर बाहर निर्ग्रन्थता की परम पवित्रता है ऐसे महावीर स्वामी हैं। आ. श्री कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रंथों में उभय निर्ग्रन्थ ही भगवान् की संज्ञा को प्राप्त हैं।

आपसे धीरता के सम्बन्ध में बात कही इन सभी बातों को जीवन में संजोकर रखना, पता नहीं जीवन के किस मोड़ पर काम आ जाएँ। कई बार ऐसा होता है कि घर में अच्छी वस्तु का प्रयोग कर रहे हैं वो डैमेज हो जाए तो घर में पड़ी पुरानी वस्तु काम आ जाती है। कई बार खोटे सिक्के काम आ जाते हैं। कई बार वो मित्र काम आ जाते हैं जिनको हम कभी देखते भी नहीं थे। कई बार वह भोजन वस्त्र आदि अच्छे लगते हैं जिन्हें देखकर आप नाक मुँह सिकोड़ते थे। इसलिए यह छोटी-छोटी बातें सहेजकर रखना। जीवन में धैर्य को मत छोड़ना। यदि ऐसा कर लिया तो एक दिन शाश्वत धैर्य युक्त होकर सिद्धालय में विराजमान हो जाओगे।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान् की जय ॥